भारतीय परम्परा में पुरुषार्थ चतुष्टय
(धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष)

डॉ. हरवंशलाल ओबराय
स्वामी संवित् सुबोधगिरि

डॉ. हरवंशलाल ओबराय समग्र

खण्ड 1 : राष्ट्रीय समस्याएं और इतिहास

खण्ड 2 : महापुरुष : व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व

खण्ड 3 : धर्म-दर्शन-संस्कृति-उत्सव-विज्ञान एवं मनोविज्ञान

खण्ड 4 : वेदान्त दर्शन की वैज्ञानिकता

खण्ड 5 : गीता दर्शन की सार्वभौमिकता

प्रकाशक एवं वितरक :
स्वामी संवित् सुबोधगिरि
श्री नृसिंह भवन
संन्यास आश्रम, शिव मन्दिर
भीनासर 334403
बीकानेर (राजस्थान)
मो. : 09413769139

अन्य पुस्तक प्राप्ति स्थान :

- श्री सुशील कुमार ताम्बी
  प्रज्ञा साधना आध्यात्मिक पुस्तक केन्द्र
  A/3 आर्य नगर
  एन.के. पब्लिक स्कूल के पास
  मुरलीपुरा, जयपुर 302039
  फोन : 0141-2233765 मो. : 09829547773
- **ज्ञान गंगा प्रकाशन**
  पाथेय भवन,
  बी-19, न्यू कॉलोनी, जयपुर
  दूरभाष : 0141-2371563
- **अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना**
  आप्टे भवन, केशव कुंज, झण्डेवाला
  नई दिल्ली 110055
  फोन : 011-23675667
- **हिन्दू राइटर्स फोरम**
  129-बी, डी.डी.ए. फ्लैट्स (एम.आई.जी.)
  राजौरी गार्डन, नई दिल्ली 110027
- **जागृति प्रकाशन**
  श्री कृष्णानन्द सागर
  एफ-109, सेक्टर-27, नोएडा 201301
  फोन : 0120-2538101 मो. : 09871143768

ISBN 978-81-929055-7-0

प्रथम संस्करण : 2014 ई.

प्रतियां : 1100

मूल्य : सत्तर रुपये मात्र

आवरण : गौरीशंकर आचार्य

मुद्रक :
सांखला प्रिंटर्स, विनायक शिखर
शिवबाड़ी रोड, बीकानेर 334003

BHARATIY PARAMPARA MEN PURUSHARTH CHATUSHTAY
Edited by Swami Samvit Subodhgiri ₹ 70

आशीर्वचन

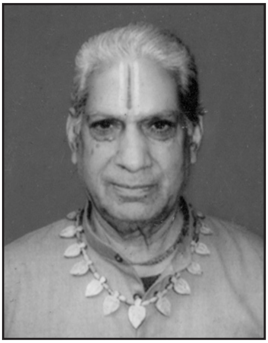
भारतीय संस्कृति का आधार सनातन धर्म है। सनातन का अर्थ है जो आदि और अन्त रहित है। अतः यह धर्म अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक रहेगा। इस धर्म को अपनाने वाले को भी यह धर्म 'सनातन' की प्राप्ति करा देता है। ब्रह्म को ही वेदों में सत्य या सनातन कहा है। सनातन धर्म पर आधारित होने के कारण भारतीय संस्कृति भी सनातन संस्कृति है। भारतीय संस्कृति ओंकार-मूलक है। ओंकार ही ब्रह्म है, ओंकार ही आत्मा है, ओंकार ही जगत् है, ओंकार से भिन्न और परे किसी अन्य की सत्ता ही नहीं है। ओंकार से ही सारे वेद प्रकट हुए हैं। वेद अपौरुषेय हैं, अनन्त हैं, सनातन हैं। संस्कृति का विस्तार वेदों में प्रतिपादित कर्मकाण्ड, उपासना-काण्ड और ज्ञानकाण्ड के अनुसार हुआ। संस्कृति के संवाहक ऋषियों ने मानव मात्र के अभ्युदय और निःश्रेयस को प्रदान करने वाले जीवन-दर्शन और जीवन-विज्ञान को सारे विश्व में फैलाया। भारत-भूमि को इस संस्कृति-प्राकट्य और प्रसार के मूल-स्थान होने का गौरव प्राप्त है। इस संस्कृति-वीणा की दिव्य झंकार तो 14 भुवनों के आरपार होकर वैकुण्ठ, कैलास और मणिपूर व्यापिनी है।

अवतारों की लीलास्थली एवं ऋषियों की तपोभूमि भारत में संस्कृति का प्रवाह कभी अवरुद्ध नहीं हुआ। संकट के समय में जब इसका बाह्य रूप प्रक्षीण हुआ तब भी यह अन्तःपयस्विनी होकर सतत प्रवाहित होती रही।

प्रस्तुत ग्रंथ में संस्कृति की इस अमरता और इसके वैश्विक रूप का सम्यक् दर्शन होता है। प्रखर मनीषी और उद्‌भट विद्वान् प्रो. हरवंशलाल ओबराय एक चल-विश्वविद्यालय व चल-पुस्तकालय होने के साथ-साथ ब्रह्मविद्या के श्रेष्ठ विद्यार्थी भी थे। एक स्थान पर स्थिर होकर लेखन कार्य में संलग्न रहना उनके स्वभाव में नहीं था। उन्होंने स्वयं लिखने से अधिक लिखवाया और उससे भी अधिक प्रवचनों में अभिव्यक्त किया। उनके द्वारा अभिव्यक्त बहुमूल्य सामग्री को स्वामी श्री सुबोधगिरिजी ने वर्षों तक संभाल कर रखा। संन्यास के पूर्व वे अनेक वर्षों तक प्रो. ओबराय के शिष्य बन कर रहे। उन्होंने सत्-शिष्य बन कर प्रो. ओबराय की सेवा की, उपासना की और उनसे अध्यात्म, धर्म, संस्कृति, इतिहास आदि अनेक विषयों का प्रामाणिक एवं दुर्लभ ज्ञान प्राप्त किया। प्रो. ओबराय ने अपनी प्रखर प्रतिभा, अनुसंधानात्मक वृत्ति तथा संश्लेषक व विश्लेषक प्रज्ञा द्वारा भारतीय संस्कृति के अनेक अज्ञात पक्षों का पता लगाया था। उनकी बहुत कुछ सामग्री तो उनके पश्चात् बचाई नहीं जा सकी। किन्तु सुबोधगिरिजी ने अपने पास की सामग्री को तथा कई अन्य स्रोतों से भी उनकी रचनाओं को एकत्र करके उन्हें लोक कल्याण के लिये प्रकाशित करने के संकल्प को जीवित रखा। प्रभुकृपा से अब उनका संकल्प पूर्ण होने जा रहा है। यह प्रकाशन प्रो. ओबराय के प्रति उनकी सच्ची श्रद्धांजलि है। प्रभु से प्रार्थना है कि वे निरन्तर ज्ञानार्जन करते हुए ब्रह्मविद्या के आलोक को प्राप्त करें।

—परम पूज्य गुरुदेव स्वामी संवित् सोमगिरि

सौजन्यता का हेतु



हिन्दू संस्कृति के पुजारी डॉ. हरवंशलाल का सम्पूर्ण जीवन भारत माता व हिन्दू धर्म को समर्पित रहा। वे दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर थे। अपने शोध परिणामों से उन्होंने भारत के महत्त्व को जाना एवं 106 देशों में उनके व्याख्यान हुए। लोगों को हिन्दू धर्म का महत्त्व समझाया। स्वामी संवित् सुबोधगिरिजी विद्यार्थी जीवन से ही डॉ. हरवंशलाल के सम्पर्क में आए व उन्होंने जाना कि किस प्रकार विदेशी पादरी शिक्षा व सेवा की आड़ में धर्म परिवर्तन का बीभत्स खेल खेल रहे हैं। स्वामी संवित् सुबोधगिरिजी ने अपना सम्पूर्ण जीवन गौरवशाली सनातन हिन्दू धर्म व भारत माता पर न्योछावर कर दिया। गुरु स्वामी संवित् सोमगिरिजी महाराज के पावन चरणों के अनुग्रह से डॉ. हरवंशलाल व स्वामी संवित् सुबोधगिरिजी के विचार पुस्तकों के माध्यम से जन-जन तक पहुँच रहे हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में 'भारतीय परम्परा में पुरुषार्थ चतुष्टय' पश्चिम में शरीर, मन-बुद्धि (Mind & Matter) से परे का विचार नहीं मिलता। अतः उनके यहां जीवन में अर्थ और काम दो पुरुषार्थ के लिए स्थान बनता है। ये सभ्यतायें केवल भौतिकता पर आधारित होने से नश्वर सिद्ध हुईं। भारत ने शरीर, मन-बुद्धि के साथ आत्मा का भी विचार किया, और आत्मा को ही अपना मूल माना। अतः चार पुरुषार्थ जीवन में आदर्श के रूप में रखे यथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ताकि अपने जीवन काल में ही पूर्णता, अखण्ड आनन्द एवं आत्म लाभ कर सकें। भारतीय सभ्यता निरी-भौतिकता पर आधारित न होकर आत्मा पर आधारित होने से सब प्रकार के दुर्भाग्य की ठोकरें खाकर भी चिरंजीवी सिद्ध हुई है। हिन्दू धर्म में स्वामी संवित् सोमगिरिजी महाराज व उनके शिष्य स्वामी संवित् सुबोधगिरिजी महाराज जैसे पुष्पों से, पल्लवित-पुष्पवित होता रहे। हिन्दू धर्म की सुगन्ध चहुंओर फैलती रहे। नई पीढ़ी अपने धर्म को समझे व गर्व से कह सके कि मैं हिन्दू हूँ। यही कामना है।

उच्च विचारों से ओत-प्रोत हिन्दू धर्म व भारत माता के गौरव को प्रदर्शित करने वाली उक्त पुस्तक के प्रकाशन का कार्य माँ जगदम्बा श्री करणी माता की कृपा से मुझे प्राप्त हुआ है। इस हेतु मैं सन्तों का भी सदैव ऋणी रहूँगा। 'माँ' फाउण्डेशन भविष्य में भी हिन्दू धर्म व भारत के गौरव को प्रदर्शित करने वाली पुस्तकों के प्रकाशन में सहयोग करता रहेगा यही भगवान नर्मदेश्वर महादेव से प्रार्थना है।

रामाकांक्षी

प्रभुदास

संरक्षक, माँ फाउण्डेशन

एच-65 करणी औद्योगिक क्षेत्र, बीकानेर

सम्पादकीय

मनुष्य का समग्रता से अध्ययन भारतीय वैदिक सनातन परम्परा में ही सम्भव हुआ। पश्चिम में शरीर, मन-बुद्धि (Mind & Matter) से परे आत्मा का विचार प्रायः नहीं मिलता। पर वैदिक सनातन हिन्दू धर्म ने शरीर, मन-बुद्धि के साथ आत्मा का विचार किया। इसलिये आहार, निद्रा, भय, मैथुन, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध आदि पशु प्रवृत्तियों के साथ-साथ देवी वृत्तियां यथा धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य, अक्रोध का भाव भी पाया जाता है। अर्थात् पशु-प्रवृत्तियों के साथ-साथ इससे ऊपर उठने का भाव भी हमारे अन्दर विद्यमान है। इसलिये हमने शरीर, मन-बुद्धि के साथ आत्मा का विचार किया।

आत्मा को ही परम सत्य माना। शरीर और मन को अस्वीकारा नहीं पर उसे परम सत्य नहीं माना। अतः परम महत्त्व भी नहीं दिया। इसके आधार में आत्मा को रखा। शरीर और मन को यथा योग्य स्थान दिया। अतः अर्थ और काम की कभी उपेक्षा नहीं की। नहीं तो देश धन-वैभव की दृष्टि से सोने की चिड़िया नहीं होता। धन-वैभव से आकृष्ट होकर ही एक के बाद एक विदेशी आक्रान्ता यथा शक, हूण, कुषाण, तुर्क, मुगल, पठान, फ्रेंच, डच, अंग्रेज आए। हम धन और वैभव में जीने वाले समाज रहे हैं। हां, अर्थ और काम धर्म और मोक्ष के नियंत्रण में ही मंगलमय होता है, कल्याणकारी होता है। अतः धर्म के अनुशासन में ही अर्थ का उपार्जन करते हैं, और काम का उपभोग करते हैं और समय आने पर उससे असंग उपराम भी हो जाते हैं, इन दोनों से ऊपर उठ जाते हैं। इस तरह जीवन का विकास एक पक्षीय नहीं होता है, जीवन में सड़ान नहीं आती। हमने धन-वैभव की तरह ज्ञान-विज्ञान में, धर्म और दर्शन में, सभ्यता और संस्कृति में, कला और कौशल में परम विकास किया और 18वीं शताब्दी तक भारत विश्व में इस दृष्टि से भी सबसे आगे था। इसलिए विश्व के साधक और ज्ञान-पिपासु इस दृष्टि से अपनी प्यास बुझाने के लिए भारत आते रहे हैं और अपने में कृत-कृत्यता, धन्य-धन्यता, पूर्ण-पूर्णता का अनुभव करते रहे हैं। और इस प्रकार भारत में जीवन का समग्र-सर्वाङ्गीण विकास साधित होता रहा है। अतः मनुष्य के सामने चार आदर्श, जीवन लक्ष्य या मूल्य रखे जिसके अन्दर अन्य सारे जीवनमूल्य समाविष्ट हो जाते हैं, वह हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इसके द्वारा लौकिक अभ्युदय, पारमार्थिक निःश्रेयस, लोक-परलोक, जगत् का भला और अपनी मुक्ति, सभी सिद्ध हो जाते हैं। इन चार आदर्शों में दो शाश्वत जीवनमूल्य हैं और दो अस्थायी। धर्म और मोक्ष शाश्वत हैं, अर्थ और काम बीच के पड़ाव की तरह हैं। अन्त में धर्म और मोक्ष भी एक हो जाते और आत्मा की अमरता

ही शेष बचती है। भारत इन चारों (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) पर अवलम्बित होने से सब प्रकार के दुर्भाग्य की ठोकरें खाकर आज भी चिरजीवी बना हुआ है पर विश्व की अन्य सभ्यताएं मुख्यतः अर्थ और काम पर आधारित होने से दुर्भाग्य की ठोकर सह नहीं पायी और सदा के लिए नष्ट हो गयीं।

इसमें डॉ. हरवंशलाल ओबराय समग्र के पंचम खण्ड से पुरुषार्थ चतुष्टय सम्बन्धित लेख संकलित है। साथ में मेरा भी पुरुषार्थ चतुष्टय पर लेख, विषय की स्पष्टता के लिये शामिल किया गया है पंचम खण्ड से ही। इसके अलावा भी धर्म पर मेरा एक नया लेख भी शामिल है। इस पुस्तक के समस्त व्ययभार को सहर्ष श्रीमान् प्रभुदासजी ने वहन किया है, इन पर सतत प्रभु कृपा बरसती रहे। परम पूज्य गुरुदेव स्वामी संवित् सोमगिरिजी महाराज के आशीर्वाद एवं सांखला प्रिंटर्स के सौहार्दपूर्ण प्रिंटिंग कार्य में सहयोग से प्रकाशित हो रही है।

शिवाकांक्षी

स्वामी संवित् सुबोधगिरि

मो. 09413769139

अनुक्रम

डॉ. हरवंशलाल ओबराय

धर्म

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थों में धर्म का महत्त्व सर्वाधिक होने के कारण और इसकी आवश्यकता चारों पुरुषार्थों में होने के कारण इसका नाम सबसे पहले लिया जाता है। धर्म का अर्थ है कर्तव्य। गीता में स्वधर्म पालन (कर्तव्य पालन) पर बल दिया गया है। दूसरे के अधिक सुन्दर दिखने वाले धर्म की अपेक्षा अपना कम गुणों वाला धर्म भी अधिक कल्याण करने वाला है। परायी सुन्दर धनवान स्त्री की अपेक्षा अपनी निर्धन एवं रूपहीन माता अधिक कल्याण कर सकती है। भगवान् कहते हैं—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः। 3/35, गीता

'अपने स्वधर्म में मर जाना भी अधिक कल्याणकारी है। दूसरे का धर्म तो भय देने वाला है।' निष्काम भाव से शास्त्र के आदेशानुसार प्रभु की प्रीति के लिए कर्म का संग, कर्मफल एवं कर्तापन का अहंकार त्यागकर किया हुआ कर्तव्यकर्म मोहनाश कर जीव को मुक्त करने वाला है।

अर्थ

भारतीय संस्कृति में अर्थ का आदर्श है धर्म पर चलते हुए धन-धान्य की प्राप्ति एवं सदुपयोग। धन एवं धान्य परस्पर सम्बन्धित है। कोई धान्य उगाता है और निर्वाह योग्य धान्य को रखकर शेष धान्य को बेचकर धन में परिवर्तित कर लेता है और उस धान्य से अन्य आवश्यकताओं की आपूर्ति करता है। जो व्यक्ति कृषि न करके अपने तन का श्रम या बौद्धिक श्रम लगाकर धन कमाते हैं, वे सीधे धन या पैसे को खाकर पेट नहीं भरते। वे धन को धान्य में परिवर्तित कर अपनी खाद्य समस्या का समाधान करते हैं। भारतीय संस्कृति का कथन है धन अथवा धान्य कमाओ किन्तु धर्म पर चलते हुए उनका उपार्जन करो। न किसी की जेब काटो, न गला काटो और न खेत काटो। अर्थ में शुचिता भारतीय संस्कृति का अनिवार्य मूल्य है। भगवान् मनु ने कहा—

सर्वेषामेव शौचानामर्थ शौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः।। 5/106

अर्थात् सब प्रकार के शौचों में (पवित्रता के कार्यों में) अर्थ शुचिता ही सबसे श्रेष्ठ है। मिट्टी और जल से बारबार धोकर, रगड़कर हाथों की या शरीर के अन्य अंगों की सफाई करना तो मात्र बाहर की औपचारिकता ही है। जिस व्यक्ति की कमाई पवित्र नहीं है वह चाहे जीवनभर सब तीर्थों में स्नान करता रहे और गोपी चन्दन और गंगाजल से शरीर को दर्जनों बार नहलाता रहे, वह पवित्र नहीं हो सकेगा।

(क) अर्थशुचिता की मीमांसा—मानव को परिश्रम करके धन-धान्य का उपार्जन करना चाहिए। आलस्य और अकर्मण्यता में पड़े हुए दूसरों की कमाई खाना अथवा दूसरों के परिश्रम द्वारा उपार्जित अन्न पर जीना अर्थशुचिता नहीं है।

(ख) चोरी-चकारी का धन या लूट का अन्न कभी भी हमारी बुद्धि को पवित्र नहीं रहने देगा। दूसरे द्वारा चुराया धन-धान्य भी यदि अज्ञानवश भी प्रयोग कर लें तो वह बुद्धि को दूषित करता है। एक राजा के राजगुरु जो वीतराग संत थे, जब स्नानालय में स्नान हेतु गए तो हीरक हार देखकर उनके मन में लोभ पैदा हो गया और वे हार को ले गए। इधर राजा ने राज्य भर में हार की खोज और चोर को पकड़ने के लिए भरसक चेष्टा की किन्तु हार नहीं मिला। एक मास पश्चात् राजगुरु स्वयं राजा के पास हीरक हार लेकर पहुंचे तथा कहा कि मैं हार उठाकर ले गया था। राजा को विश्वास नहीं हुआ। गुरु ने कहा कि दूषित अन्न के प्रभाव से मेरे मन में चोरी का भाव उदय हुआ। राजा को इस बात पर विस्मय हुआ। खोज करने पर पता चला कि 40-45 दिन पूर्व राज-कर्मचारियों ने चोरी का अन्न ले जाते हुए कुछ चोरों को पकड़ा था। चोरों को कारागार में भेजा गया और अन्न अधिग्रहण कर सरकारी भण्डार में रखा। उसी भण्डार से कुछ अन्न के बोरे राजा की पाकशाला में आए थे, चोरी के अन्न को ग्रहण करने से राजगुरु तक के मन में चोरी का भाव उदय हो गया था। एक मास पश्चात् जब दूषित अन्न का प्रभाव पूर्ण रूप से शरीर से निकल गया तब अपने आप राजगुरु के मन में चोरी के कृत्य पर पश्चात्ताप हुआ। आज चोरबाजारी, भ्रष्टाचार, घूसखोरी, ठगी के अन्न या धन से मानव का मन दूषित हो रहा है। दूषित मन में दूषितभाव ही जगते हैं। उससे अहंता-ममता बढ़ती है। जीव स्वयं पतित होता है और समाज को नरकतुल्य बना देता है।

(ग) जिस धन-धान्य की प्राप्ति के लिए हमने इसके समान परिश्रम न किया हो वह भी अपवित्र माना जाता है। इसलिए जुए का धन अपवित्र है। आजकल लॉटरी का फैशन चल पड़ा है किन्तु विचार कर देखेंगे तो लॉटरी भी सरकार द्वारा स्वीकृत फैशनेबुल जुआ ही है। इससे किसी व्यक्ति को बिना उचित परिश्रम किए ही अन्य लाखों लोगों का हक छीनकर मोटी रकम मिल जाती है। अतः लॉटरी

के धन को भी अपने निजी प्रयोग में न लाकर किसी समाज कल्याण के कार्य में लगाना चाहिए।

(घ) जो व्यक्ति लेन-देन में साफ नहीं है, जो लिए हुए उधार को हड़प कर बैठ जाता है या भूल जाता है अथवा उसको डकार जाने के लिए कोई बहाना खोज लेता है उसका धन पवित्र नहीं है। ऐसे मित्र के यहां भोजन करने से भी उसकी पाप प्रवृत्ति का अंश हमें भी दूषित कर सकता है। ऐसा व्यक्ति मोह में अंधा है, लोभ के पाप में डूबा हुआ है तथा अन्यों को भी डुबाने में कारण बनता है।

(ङ) पाप की कमाई से परिवार को पालने पर बच्चों में भी पाप के भाव आते हैं। वे बड़े होने पर स्वयं अपने माता-पिता को भी ठगने या लूटने में अग्रणी होते हैं। जो धन अनर्थ से आता है वह अनर्थ में या व्यर्थ में ही जाता है।

(च) धन की चार गतियां हैं—

चत्वारो धनदायका धर्माग्निनृपतस्कराः।
तेषां ज्येष्ठापमानेन त्रयः कुप्यन्ति सोदराः।।

धन के हिस्सेदार चार भाई हैं—धर्म, अग्नि, राजा और चोर। इसमें बड़े भाई के अपमान से छोटे तीनों (अग्नि, राजा और चोर) कुपित हो जाते हैं और सब धन समाप्त हो जाता है।

अर्थात् धन की चार गति है। या तो धर्म में लगे या राजा कर रूप में छीन ले या चोर लूट ले या आग में जल जाए। जिस धन का प्रथम गति में धर्मार्थ विनियोग नहीं होता है उसकी अन्य गतियां होनी अनिवार्य हैं।

भगवान् शंकराचार्य ने कहा है—

अर्थमनर्थं भावय नित्यम्

अर्थात् यह नित्य भावना करो कि अर्थ ही सभी अनर्थों का कारण है। वास्तव में कांचन और कामिनी ममता के दो बड़े आकर्षक एवं लुभावने आकर्षण बिन्दु हैं। इसलिए धन के मद में और कामिनी के मोह में अंधा होकर मनुष्य नाना प्रकार के अनर्थ, अनाचार करता है। रावण ने सोने की लंका के लोभ में अपने भाई कुबेर को भगाकर सोने की लंका पर आधिपत्य जमा लिया और सीता के सौन्दर्य पर मोहित हो उसे चुराकर ले गया। इस प्रकार ब्रह्माजी का प्रपौत्र, पुलस्त्य ऋषि का पौत्र, विश्रवा ऋषि का पुत्र (ब्राह्मणवंशी) रावण वेदों का विद्वान् होते हुए भी कांचन और कामिनी के मोह के कारण इतिहास में राक्षस के नाम पर तिरस्कृत हुआ।

वनवास काल में जब लक्ष्मण भगवान् राम से पूछते हैं कि संसार में ऐसा कौन व्यक्ति है जो कांचन और कामिनी के मोह में फंसता नहीं है तो भगवान् समाधान देते हैं—

पिता यस्य सदाचारी, माता यस्य पतिव्रता।
कंचन कामिनीं दृष्ट्वा न तस्य चलति मनः।।

अर्थात् जिसके पिता सदाचारी हैं, माता पतिव्रता है, ऐसे सदाचारी माता-पिता की संतान का मन कंचन और कामिनी को देखकर चलायमान नहीं होता है।

(छ) श्रीरामकृष्ण परमहंस गंगा के तीर पर एक हाथ में मिट्टी और दूसरे में सोना लेकर बैठते और कहते थे ये मिट्टी, ये सोना। पुनः सोना को मिट्टी और मिट्टी को सोना। फिर दोनों को सोना। फिर दोनों को मिट्टी कहकर गंगाजी में फेंक देते। यदि कोई गहरी निद्रा में भी उनके शरीर के किसी अंग से कोई सिक्का छुआ देता तो उनका अंग सिकुड़ कर पीछे हट जाता था। इस प्रकार उन्होंने कांचन के मोह पर विजय पाई थी। कामिनी पर विजय के लिए वे प्रत्येक नारी को भगवती, माँ काली का रूप मानकर वंदन करते थे। वे वेश्याओं तक में भी माँ भगवती का दर्शन किया करते थे।

(ज) श्रीरामकृष्ण जैसी सिद्धावस्था तो कुछ विरले जनों को प्राप्त होती है। किन्तु साधनावस्था में ही कांचन और कामिनी की मोह-ममता से बचने का सूत्र भारतीय ऋषियों ने दिया है—

मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्।
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति।।

अर्थात् परायी स्त्रियों को माता के समान और पराये धन को लोष्ठ (कंकर-पत्थर) के समान और सब भूत प्राणियों को अपनी आत्मा के समान जो देखता है वह ही सच्चा मानव मोह-ममता से मुक्त होकर सत्यदृष्टि से देखता है। इसी को रामायण में तुलसीदासजी ने गाया है—

जननी सम जानहिं परनारी। धनु पराव विष तें विष भारी।।
जो हरषहिं पर संपति देखी। दुखित होहिं पर बिपति बिसेषी।।
जिन्हहि राम तुम्ह प्राणपियारे। तिन्ह के मन सुभ सदन तुम्हारे।। 2/129/6-8

गोस्वामी तुलसीदास अन्यत्र उसी भाव को कहते हैं—

पर नारी सब मातु सम, पर धन धूलि समान।
एते से प्रभु ना मिले, तो तुलसी दास जमान।।

श्रीरामकृष्ण परमहंस की सिद्धावस्था में कांचन-कामिनी भाव शेष ही नहीं रहते—

मातृवत् स्वदारेऽपि सर्वद्रव्येषु लोष्ठवत्।
आत्मैव सर्वभूतेषु, रामकृष्णः जयतु सदा।।

(झ) शास्त्र का वचन है—'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'

अर्थात् आहार की शुद्धि से ही मन की शुद्धि होती है। आहार में निम्नलिखित तथ्य विचारणीय हैं—

(i) पवित्र धन (पवित्र कमाई का पैसा)।

(ii) परिश्रम से उपार्जित धन।

(iii) बिना छल-छद्म से प्राप्त धन।

(iv) पवित्र अन्न।

(v) अहिंसक भोज्य पदार्थ।

(vi) पवित्र स्थान पर बना हुआ।

(vii) पवित्र व्यक्ति द्वारा पकाया हुआ।

(viii) पवित्र भाव से पकाया हुआ एवं परोसा हुआ।

(ix) पवित्र स्थान पर ग्रहण।

(x) पवित्र भाव से भगवान् को समर्पित।

(xi) अतिथि-अभ्यागत को भेंट कर।

(xii) शरीर निर्वाह भर के लिए जिह्वा के स्वाद या इन्द्रियों के लोभ से मुक्त, भगवान् के प्रसाद को ग्रहण करना।

गुरु नानकदेव ने दीवान के भोगों के पूरी-पकवान को त्यागकर भाई लालो (एक निर्धन बढ़ई) की सूखी रोटी को आनन्दपूर्वक स्वीकार किया। उन्होंने दर्शाया कि दीवान के भोजन में निर्धनों का रक्त है और गरीब बढ़ई की सूखी रोटी में परिश्रम का सात्त्विक दुग्ध है।

भगवान् कृष्ण ने दुर्योधन का मेवा त्यागकर विदुर के घर का शाक स्वीकार किया। उन्होंने दुर्योधन से कहा कि मनुष्य भोजन तब करता है जब देने वाले के मन में प्रेम हो या पाने वाले के मन में भूख हो, गरज हो। न तेरे मन में प्रेम है और न मेरे मन में गरज है।

अहंकारी एवं स्वार्थी (भोजन कराके अपना उल्लू सीधा करने की चेष्टा वाले) व्यक्ति के यहां भोजन करने से तो मन अशुद्ध होता है।

(ञ) शास्त्रों में मठ-मन्दिरों में चढ़ाए हुए चढ़त या दान के पैसों को भी बहुत भारी एवं दूषित माना गया है। सभी भक्तगण या आगन्तुक अपने किसी कष्ट क्लेश के निवारण के लिए मन में कुछ मनौती मांग कर देवता के सामने पैसा चढ़ाते हैं। अतः उस पैसे में उनके कष्ट-क्लेश, दुःख छिपे हुए और भगवान् से उनकी सकाम

याचना लिपटी हुई है। उसे (उस धन को) पचाना बहुत कठिन काम है। केवल तपस्वी ब्राह्मण ही अपनी तपस्या की अग्नि से चढ़त के पैसे के दूषित संस्कारों को भस्मकर उन्हें प्रयोग करने का अधिकारी बनता है। तपस्याहीन, साधनाहीन, केवल खान-पान, नशा सेवन, निद्रा, आलस्य में जीवन बिताने वाले ढोंगी साधुओं एवं मठाधीशों को यह दूषित अन्न और धन और भी अधिक नीचे गिरा देता है।

एक बार भगवान् राम के दरबार में एक कुत्ते ने न्याय की पुकार की। उसने कहा कि एक ब्राह्मण ने बिना कुत्ते के भौंकने या काटने की चेष्टा के अकारण ही उसे डण्डा मारकर घायल कर दिया। भगवान् ने ब्राह्मण को बुलाकर सारी जांच-पड़ताल की। कुत्ते का आरोप ठीक था, जिसे ब्राह्मण को भी मानना पड़ा। भगवान् ने कुत्ते से पूछा—तुम्हीं बताओ कि इसे क्या दण्ड दिया जाए। इस पर कुत्ते ने उत्तर दिया, महाराज! इसे किसी मठ का मठाधीश बना दिया जाए। सबके विस्मय करने पर कुत्ते ने कहा—मैं भी पिछले जन्म में मठ का मठाधीश था। लोगों के दान का दूषित अन्न खाकर मुझे कुत्ते की योनि मिली। अतः इसे भी इस क्रम में जब कुकुर योनि मिलेगी तब इसे पता चलेगा कि डण्डा मारने से कैसी पीड़ा होती है।

(ट) धन की कमाई में और धान्य के उत्पादन में कुछ दोष अज्ञात रूप में मिल जाते हैं जिनका निवारण करना कई बार असम्भव हो जाता है। जैसे मिलने वाले वेतन के सिक्के या नोट, वेतन देने वाले ने कैसे कमाया इस पर ईमानदार परिश्रमी कार्यकर्ता का कोई जोर नहीं है। छुट्टी के दिनों का बिना परिश्रम का वेतन, हड़ताल के दिनों का, कर्फ्यू के दिनों का वेतन, अकस्मात् दाम बढ़ जाने से होने वाला लाभ, ग्राहक की भूल से अधिक पैसा आ जाना, खेत के जोतने में कुछ जीवों की हिंसा, काटने में, पीसने में, अग्नि जलाने में, पकाने में, अज्ञात एवं अनिच्छित रूप में होने वाली हिंसा के छोटे-मोटे दोष अन्न में आ ही जाते हैं। इन अनिच्छित-अकस्मात् होने वाले धन और धान्य दोषों के निवारण के लिए भारतीय ऋषियों ने दान और पंच महायज्ञ का विधान किया है। अपनी कमाई का दस प्रतिशत समाजसेवा एवं धमार्थ कार्यों में दान करना चाहिए।

पंच महायज्ञों के द्वारा मनुष्य सारी सृष्टि के ऋण का कुछ अंश में भुगतान करना सीखता है।

पंच महायज्ञ

(1) **ब्रह्मयज्ञ—**दैनिक ब्रह्म चिन्तन करना।

(2) **ऋषियज्ञ—**ऋषियों के पवित्र ग्रंथों का स्वाध्याय करना।

(3) **पितृयज्ञ—**पितरों-पूर्वजों का श्राद्ध स्मरण रख उन्हें जलांजलि देना तथा यथासमय श्राद्ध करना।

औरंगजेब ने अपने पिता शाहजहां को आगरा के लाल किले की मोती मस्जिद में कैद कर रखा था। तब एक बार वह उसे देखने के लिए गया, हाथ-पैर बंधे हुए अपने बाप को घिसट-घिसट कर पानी के प्याले की ओर जाते देखकर औरंगजेब ने अपने बाप को अधिक सताने के लिए पांव की ठोकर से प्याला तोड़ दिया। इस पर शाहजहां जोर-जोर से रोने लगा। उसने कहा—

ऐ पिसर तू अजब मुसलमानी, ब पिदरे जिंदा आब तरसानी।
आफरीन बाद हिन्दवान सत्‌बार, मैं देहंद पिदरे मुर्दारावा दायॅम आब।।

हे पुत्र! तू विचित्र मुसलमान है जो अपने जीवित पिता को जल के लिए भी तरसा रहा है। शत-शत बार प्रशंसनीय हैं वे हिन्दू जो अपने मृत माता-पिता को भी जल देते हैं।

गुरु नानकदेवजी ने भी कहा है—

आप न देह चुलुभर पानी
निंदई सइ जिन गंगा आनी।

अर्थात् लोग स्वयं अपने पितरों को चुल्लू भर पानी तो देते नहीं किन्तु निन्दा उस राजा भगीरथ की करने लगते हैं जो अपने पितरों के उद्धार के लिए स्वयं गंगा को ही स्वर्ग से पृथ्वी पर ले आया था।

(4) **नृ यज्ञ—**अर्थात् मनुष्य के कल्याण के लिए यज्ञ। इसी का दूसरा नाम अतिथि यज्ञ भी है। अतिथि ऐसा व्यक्ति है जो बिना पूर्व सूचना के बिना घोषित तिथि के हमारे गांव में अथवा हमारे द्वार पर आ जाए। आजकल किसी विशिष्ट आदमी के पूर्व सूचनानुसार पहुंचने पर उसे अतिथि या विशिष्ट अतिथि कहते रहते हैं। वास्तव में ऐसा व्यक्ति अतिथि न होकर अभ्यागत है। परिचित मित्र, बंधु, गोतिया भी बाहर से आने पर अभ्यागत की कोटि में आएंगे। अतिथि तो प्रायः अपरिचित, बिना पूर्व सूचना के, बिना घोषित तिथि के अकस्मात् हमारे द्वार पर आ जाने वाला व्यक्ति है। वेद का वचन है **'अतिथि देवो भव।'** अर्थात् अतिथि को देवता मानो। अतिथि सत्कार, अतिथि पूजा, अतिथि सेवा, अतिथि धर्म, भारतीय संस्कृति की बड़ी दिव्य परम्परा रही है जिसकी महिमा मैगस्थनीज (यूनानी यात्री) तथा ह्वेनसांग, फाहियान आदि चीनी यात्रियों ने भी गायी है। यहां अतिथियों के पानी मांगने पर आदरपूर्वक दूध भेंट किया जाता है। राजा रन्तिदेव ने अपना भोजन अतिथि को देकर स्वयं भूख से प्राण देना भी श्रेयस्कर समझा। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में एक नेवला पहुंचा जिसका आधा शरीर सोने का था। उसने बताया कि युधिष्ठिर महाराज का यज्ञ एक गरीब ब्राह्मण के सत्तू दान यज्ञ से भी घटिया है। एक गरीब ब्राह्मण परिवार को कई दिन तक कई मास के दुर्भिक्ष

में बहुत कष्ट झेलना पड़ा। कई दिन के उपवास के बाद जब उनका अपना प्राण संकट में था तब भिक्षा में एक मुट्ठी सत्तू मिल गया था। उसे घोलकर परिवार के चार सदस्य एक-एक घूंट पीने के लिए उद्यत थे, तभी एक भूखा अतिथि पहुंच गया। पति-पत्नी और पुत्र-पुत्री चारों ने बारी-बारी से अपना कटोरा अतिथि को दे दिया। और अतिथि के तृप्त हो जाने पर समाधानपूर्वक भूखे ही प्राण छोड़ दिए। अतिथि के सत्तू पीने से जो अनाज के दो-चार कण धरती पर गिरे उन्हें स्पर्श करते ही नेवले का आधा शरीर सोने का हो गया था। शेष आधे शरीर को भी स्वर्णिम बनाने लिए वह युधिष्ठिर महाराज के यज्ञशेष अन्न में लोट-पोट रहा था, किन्तु उसका शेष शरीर जब सोने का नहीं बना तो उसने कहा, हे युधिष्ठिर महाराज! आपका करोड़ों स्वर्ण मुद्राओं के दान वाला यह विराट् यज्ञ उस निर्धन ब्राह्मण के सत्तू दान यज्ञ की अपेक्षा घटिया है। शास्त्र में विधान है कि जिसके घर में स्वतः अतिथि न पहुंचे उसे गांव के चौराहे में जाकर पुकारना चाहिए 'अहं अतिथिं याचे' अर्थात् मैं अतिथि की याचना करता हूं। ऐसी याचना करते हुए उसे गोधारा दोहनकालपर्यन्तम् (गो-दुग्ध धारा दुहने में जितना समय लगता है उतने काल तक) प्रतीक्षा करनी चाहिए। इसका भाव यही है कि वह मेरे घर चलकर मेरे अन्न को पवित्र करे। इस परम्परा से अतिथि यज्ञ के चमत्कार द्वारा किसी गांव में कोई भी व्यक्ति भूखा नहीं रह सकता।

एक भारतीय प्राध्यापक अनेक वर्षों तक इंग्लैण्ड में ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में शिक्षा एवं शोध के पश्चात् जब भारत लौटा तो विश्वविद्यालय में प्राध्यापक नियुक्त हुआ। वह प्रायः प्रतिदिन नेशनल लाइब्रेरी, कलकत्ता में एक अन्य युवा प्राध्यापक को शोध में मार्गदर्शन हेतु ले जाता था। संध्या समय लौटती बार में वे दोनों फिदरपुर मार्केट में एक साधारण होटल में चाय, जलपान करते। ऑक्सफोर्ड का पढ़ा हुआ प्राध्यापक प्रतिदिन भारत के सामान्य चाय होटल की इंग्लैण्ड के बड़े वैभवशाली होटलों से तुलनाकर भारत की निंदा करता रहता था। वहां के होटल महल जैसे थे और भारत में खपरा से ढके हुए साधारण झोंपड़े में होटल चलता। वहां कालीन बिछे रहते, यहां कीचड़ और धूल से भरा हुआ मिट्टी का फर्श, वहां सुन्दर सूट-बूट पहने बेरे साफ सुथरी मेजों पर भोजन पहुंचाते, यहां अधनंगे अनपढ़ बच्चे गंदी सी टेबलों पर मैले हाथों से मैले बरतनों में खाना पहुंचाते थे। वहां सुगन्धित वातावरण, यहां मक्खी मच्छर की भरमार, वहां बैण्ड बाजा और नर्तकियां, यहां अजीब शोरगुल और नौकरों की चिल्लाहट, वहां का मैनेजर या मालिक रईस के समान, यहां का होटल मालिक पसीने से लथपथ एक गंजी व धोती पहने हुए ग्राहकों से पैसा लेने में और नौकरों को डांटने में लगा हुआ। इंग्लैण्ड की चकाचौंध के बाद विदेश से आए हुए उस भारतीय को भारत में कुछ भी अच्छा दिखाई

नहीं देता। वह रोज कहता—This dirty India. I hate India. एक दिन नेशनल लाइब्रेरी में बहुत विलम्ब तक पुस्तकों का अध्ययन कर जब दोनों प्राध्यापक लौटे तो देखा कि बाजार बंद हो गया है। कोई खाने की दुकान भी खुली नहीं मिली। अन्त में उसी होटल के पास पहुंचे जहां प्रतिदिन का चाय-पान करते थे। होटल का द्वार ढका हुआ था। मालिक ने कहा—होटल बंद हो चुका है। ऑक्सफोर्ड वाले प्रोफेसर ने झांक कर देखा तो भीतर अन्दर के चूल्हे में रोटियां बन रही थी। उसने रोटियों की ओर संकेत करते हुए कहा—रोटियां तो बन रही हैं। मालिक उन्हें भीतर ले गया और आदरपूर्वक स्वयं दो थाली में भोजन परोसकर लाया। उन्हें उस दिन भोजन से बड़ी तृप्ति हुई। वे विस्मय में थे कि जो मालिक स्वयं गद्दी पर बैठे हुए नौकरों से काम कराता था वह आज स्वयं अपने हाथ से इतनी सेवा क्यों कर रहा है। भोजन के उपरान्त जब ऑक्सफोर्ड वाले प्रोफेसर ने पूछा कि बिल कितना हुआ तो मालिक ने हाथ जोड़कर कहा, हमें लज्जित मत करो। हमारा होटल बंद हो चुका है। यह भोजन आपको अतिथि के रूप में कराया है। पैसे का नाम लेकर हमारे अतिथि धर्म को कलंकित मत कीजिये। प्रोफेसर ने बहुत कहा कि दुकान यही है। यहीं पर हम दोनों जलपान लेते हैं। पर मालिक ने कहा कि दुकान की अपनी मर्यादा है। दुकान बंद हो चुकी है। यह भोजन दुकान के लिए नहीं हमारे निजी प्रयोग के लिए बन रहा था। इसका पैसा लेने पर हमारा धर्म नष्ट हो जाएगा। इस दृश्य से उस प्रोफेसर की आंखें श्रद्धा से गीली हो गई। और उसने कहा This is wonderful India. इंग्लैण्ड में होटल में भोजन करने पर सगे भाई से भी चार्ज किया जाता है, किन्तु भारत में नितान्त अपरिचित व्यक्ति को निष्काम भाव से भोजन कराना अतिथि धर्म माना जाता है। उस दिन उसे समझ आया कि भारत की निर्धनता के फटे चिथड़ों के नीचे भी भारत की दिव्य आत्मा छिपी हुई है।

(5) **भूतयज्ञ**—मनुष्य से इतर अन्य प्राणियों की सेवा के लिए धन और धान्य का कुछ अंश निकालना भूतयज्ञ कहलाता है। गऊ को ग्रास देना, चींटियों को आटा देना, पक्षियों को दाना डालना, पशुओं के पीने के लिए पानी की व्यवस्था करना, मछलियों को आटे की गोलियां डालना, पशु-पक्षियों की रक्षा, गोशाला, अश्वशाला बनवाना, उनमें रोगों के निवारण हेतु औषधालय, पशु चिकित्सालय, पक्षी चिकित्सालय चलाना आदि भूतयज्ञ के पवित्र कर्म हैं।

इस प्रकार पंच महायज्ञ के पालन से धन और धान्य की कमाई में जो दोष अदृश्य रूप से हमारे न चाहते हुए भी आ जाते हैं उनका प्रायश्चित्त हो जाता है। धन-धान्य शुद्ध हो जाता है तथा प्रयोग करने वाले व्यक्ति को कोई दोष ग्रस्त नहीं करते। पंच महायज्ञ जैसा विधान अन्य किसी धर्म संस्कृति में नहीं है। हां, बाइबिल और कुरान में दान की महिमा अवश्य है।

लेन-देन दोनों में ईमानदारी अर्थशुचिता का बहुत बड़ा लक्षण है। अतः अर्थशुचि- व्यक्ति इस विषय में बड़ा जागरूक रहता है। उधार लेने वाले व्यक्ति को स्वयं चिन्ता करके उधार वापस चुकाने के लिए तत्परता दिखानी चाहिए अन्यथा जब तक उधार बना रहेगा तब तक वह अवांछित अर्थ उधार से दबा रहेगा। उधार देने वाले व्यक्ति को बार-बार मांगने और तकाजा करने से जो कष्ट-क्लेश होता है उससे उसकी सद्भावना को भी ठेस लगती है, समाज में हमारी प्रतिष्ठा भी गिरती है तथा उसके अन्तर्मन के दुर्भाव व शाप हमारे मन पर अदृश्य रूप से अवश्य प्रभाव डालते हैं। मानव मन एक बहुत शक्तिशाली प्रसारण केन्द्र है।

भौतिक ऊर्जा से चलने वाले यंत्र अदृश्य ध्वनि तरंगों के द्वारा सम्वादों को एक स्थान से प्रसारित कर सारे संसार में विकीर्ण कर देते हैं। रेडियो द्वारा होने वाला प्रसारण, वायरलेस द्वारा प्रसारण, टेलीफोन द्वारा प्रेषण सब भौतिक ऊर्जा के खेल हैं। मानसिक ऊर्जा इससे बहुत अधिक शक्तिशाली है। मन की गति ध्वनि तरंगों या विद्युत् तरंगों से बहुत अधिक है। रॉकेट को चन्द्रमा पर पहुंचने में समय लगता है किन्तु मन क्षण मात्र में वहां पहुंच जाता है। मानसिक ऊर्जा के प्रेषण और प्रसारण से ही योग एवं परामनोविज्ञान में चमत्कार हो रहे हैं। अतः जब तक हम दूसरों से लिया हुआ ऋण स्वतः नहीं चुका देते तब तक उसके मन से निकलने वाली अवांछनीय दुर्भाव तरंगें हमारे मन को प्रभावित करती रहती है। फिर विलम्बित होने से ऋण की स्मृति दाता या गृहीता के मन में धुंधली पड़ती जाती है जिससे अर्थ की अशुचिता स्थायी बन सकती है। किसी के बार-बार मांगने के पश्चात् या लज्जित करने के पश्चात् प्रतिष्ठा हानि होने पर या पंचायत न्यायालय में मामला दर्ज होने पर मजबूर होकर ऋण चुकाना अर्थशुचिता का लक्षण नहीं है।

भारतीय संस्कृति में अर्थ शब्द धन-धान्य के अतिरिक्त सारे अर्थ व्यापार एवं राज्यकरण के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। इसलिए आचार्य चाणक्य ने अपने राजनीति के महान् ग्रंथ को अर्थशास्त्र नाम दिया है। जैसे व्यक्तिगत धन का स्वामी धनाढ्य सेठ, जागीरदार कहलाता है उसी प्रकार किसी बड़े क्षेत्र में पूरे राज्य के धन का स्वामी राजा कहलाता है। सेठ-साहूकार को धन का मद हो जाता है तो राजा को राज का मद। जैसे व्यक्ति धनमद में अंधा होकर अन्य जनों पर अत्याचार करने लगता है उसी प्रकार राजा राजमद में अंधा होकर प्रजाजनों पर अत्याचार तथा पड़ोसी राज्यों पर आक्रमण करने लगता है, जिस प्रकार अन्यों के धन से लुब्ध होकर लुटेरे (आक्रान्ता) उन पर आक्रमण करते हैं। धनवान अपने सेवकों पर शासन करता है। राजा अपने राज कर्मचारियों पर शासन करता है। अर्थ का ही

व्यापकरूप राज्य है तथा राज्यकरण और राजनीति की सारी गतिविधि अर्थ-रूपी पुरुषार्थ के अन्तर्गत आ जाती है।

भगवान् राम और रामराज्य दोनों के प्रशंसक गांधी राजनीति में पवित्रता एवं सदाचार के पक्षधर थे। आजकल राजनीतिज्ञ कहने लगे हैं Everything is fair in love & war. गांधीजी का मत था Only fair is fair everywhere. अर्थात् केवल उचित ही सर्वत्र उचित है।

भगवान् राम न लंका के स्वर्ण भण्डार पर लुब्ध हुए और न वहां के साम्राज्य वैभव पर। यह है अर्थशुचिता का आदर्श—

अपि स्वर्णमयी लंका न मे लक्ष्मण रोचते।
जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।।

विभीषण के राजतिलक के समय विभीषण के बहुत आग्रह करने पर भी भगवान् राम लंका नगरी में जाकर उसका राजतिलक करने के लिए इसलिए तैयार नहीं हुए क्योंकि उन्होंने चौदह वर्ष वन में रहकर किसी नगर में न जाने का प्रण लिया था। स्वयं वनवासी रहकर भी शरणागत को सोने की लंका का दान अर्थशुचिता का महान् आदर्श है।

भीष्म द्वारा पिता की प्रीति के लिए राजपद का परित्याग, भगवान् कृष्ण द्वारा बड़े-बड़े साम्राज्यों के संस्थापक होते हुए भी शुद्ध धर्म की भावना से सज्जनों का रक्षण एवं दुष्टों का नाश करना। स्वयं अपने लिए राज्यतिलक स्वीकार न करना, निष्काम कर्मयोग एवं निर्लोभता-अर्थशुचिता के महान् आदर्श हैं। शिवाजी के कुल-पुरोहित दादाजी कोणदेव के मन में एक बार शाहजी के मकान में एक आम तोड़ने की इच्छा पैदा हुई। किन्तु बिना स्वामी की अनुमति के आम तोड़ने की चेष्टा करने वाले हाथ को दण्ड देने हेतु तलवार से हाथ काटने लगे। अचानक शाहजी ने उन्हें आदरपूर्वक रोक दिया। किन्तु अपने मन की इस असावधानी का प्रायश्चित्त करने के लिए उन्होंने जीवनभर अपनी एक भुजा को चोगे की आस्तीन में रखा। लोगों के पूछने पर वह उस हाथ के अपराध की घटना सुनाते थे।

भारतीय शिक्षा एवं संस्कृति के अमर चित्रों में ब्रह्मज्ञान के अमर जिज्ञासु बालक नचिकेता का चरित्र बड़ा प्रेरणादायी है। ब्रह्मज्ञान के स्थान पर जब यमराज ने नचिकेता को बहुत लम्बी आयु, स्वर्ग के दिव्य भोग, नृत्य, गीत, वाहन एवं बड़े से बड़ा वैभव देने का प्रलोभन दिया तो वह आत्मज्ञान का अलौकिक जिज्ञासु उत्तर देता है—

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः

अर्थात् सच्चा मानव पैसे से, धन-वैभव से तृप्त नहीं हो सकता।

महापुरुषों ने अर्थशुचिता को सबसे बड़ी शुचिता और सबसे बड़ा धन मानकर इसकी प्रतिष्ठा की है। एक बार वर्धा आश्रम में एक विदेशी महिला ने श्रीमती कस्तूरबा गांधी के चरणों में पांच रुपए का नोट रख दिया। कस्तूरबा ने यह नोट उठाकर ताक में रख दिया ताकि बाद में आश्रम के खाते में जमा किया जा सके। तीन दिन तक वह नोट वहीं पड़ा रहा और आश्रम के खाते में जमा नहीं हो सका। सम्भवतः कस्तूरबा इस बारे में भूल गई थी। जब गांधीजी को यह सूचना मिली तो उन्होंने प्रायश्चित्त के रूप में कस्तूरबा को एक वर्ष के लिए आश्रम से निकाल दिया।

राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन प्रतिवर्ष के अन्त में रेल विभाग को 50-100 रुपया मनीआर्डर द्वारा ये लिखकर भेजते थे कि मेरे द्वारा असावधानी से रेलवे का टिकट भाड़ा देने में कहीं कोई भूल रह गई हो तो उसकी क्षतिपूर्ति के लिए यह राशि स्वीकार की जाए।

स्विट्जरलैण्ड में एक बच्चा शाम को एक साहब से माचिस की डिबिया खरीदने का आग्रह कर रहा था। साहब ने अपनी जेब का लाइटर दिखाकर कहा कि मुझे दियासलाई की आवश्यकता नहीं है। बच्चे ने आंखों में आंसूभर आग्रह किया—हम गरीब, अनाथ बच्चे हैं। हम दोनों भाई दिनभर मेहनत कर माचिस की डिबिया बनाते हैं और इन्हीं की आय से भोजन करते हैं। कृपया हम पर दया कर एक डिबिया खरीद लीजिए। साहब ने एक डिबिया लेकर एक डालर का नोट दिया और डिबिया का मूल्य काट कर शेष को लौटाने के लिए कहा। बच्चा नोट तुड़वाने के लिए बाजार की ओर दौड़ कर गया। आध घण्टा भर प्रतीक्षा करने के बाद साहब निराश होकर घर लौट आया। उसे लगा कि बच्चा पैसा लेकर भाग गया है। दूसरे दिन प्रातःकाल सूर्योदय से कुछ पूर्व ही साहब के घर की घण्टी बजी। साहब को बिस्तर से उठने में आलस्य हो रहा था। बार-बार घण्टी बजने पर उसने ऊपर के छज्जे से नीचे झांक कर देखा तो एक बच्चा जो लगभग 5-6 वर्ष का था, दरवाजे की देहली पर पंजों के बल एड़ी उठाकर खड़ा बिजली की घण्टी बजाने का प्रयास कर रहा था। साहब ने उसे झिड़क कर हट जाने को कहा किन्तु बच्चे ने बड़े कातर स्वर में साहब से एक क्षण नीचे आने की प्रार्थना की। साहब बड़े अचम्भे में था। यह बालक पिछले दिन वाले बालक से कुछ छोटा था। साहब ने टालने की कोशिश की किन्तु बच्चे के हृदयस्पर्शी आग्रह पर वह अन्यमनस्क भाव से नीचे आया। बच्चे ने उसके हाथ पर 95 सेंट रखते हुए कहा, आपने जो कल माचिस की डिबिया खरीदी थी यह उसका बाकी पैसा है। साहब ने अचम्भे से कहा, वह माचिस बेचने वाला बच्चा दूसरा था। इस छोटे बच्चे ने अश्रु विगलित-वाणी में कहा—हां, वह मेरा बड़ा भाई था। वह डालर का नोट तुड़वाने के लिए जब सड़क

पार कर रहा था तो एक ट्रक के नीचे कुचल कर मर गया। किन्तु अन्तिम श्वास से पहले उसने मुझे कहा कि साहब की कोठी पर 95 सेंट अवश्य पहुंचा देना। यह सुनते ही साहब की आंखों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। वह छोटे बच्चे के साथ उसके घर तक गया। मृतक बालक का समुचित संस्कार किया और उस बच्चे को पुत्र रूप में गोद ले लिया। उसने ईमानदार मृतक बालक का चित्र छपवाकर सब विद्यालयों में बांटा और लिखा कि जब तक हमारे देश में ऐसे अर्थशुचि-बालक होंगे तब तक हमारे देश को संसार की कोई शक्ति कभी पराधीन नहीं बना सकती।

रांची के एक पोस्टमास्टर श्री चौधरी कुछ वर्ष पूर्व प्रधान डाकघर में प्रधान लेखालिपिक थे। स्टेट बैंक से 10,000 रुपया मंगवाया गया किन्तु वहां के खजांची ने चेक पर 1,00,000 रुपया समझ कर उतनी राशि दे दी। संध्या को रोकड़ मिलाते समय श्री चौधरी ने प्रधान डाकघर के डाकपाल को बताया कि मेरे नकदी रोकड़ में नब्बे हजार रुपया अधिक है। डाकपाल श्री मुखर्जी ने इस पर विश्वास नहीं किया। श्री चौधरी अपनी रोकड़ में 90 हजार अधिक दिखाकर हस्ताक्षर करके घर चला गया। आधी रात को श्री मुखर्जी ने हिन्दपीढ़ी स्थित श्री चौधरी के घर पहुंच कर उसे जगा कर कहा कि 90 हजार वास्तव में अधिक आ गया है। आओ, हम दोनों मिलकर आधा-आधा बांट लें। श्री चौधरी ने प्रात:काल बात करने का बहाना कर उस बातचीत को टाल दिया और दूसरे दिन दफ्तर पहुंचने से पहले ही स्टेट बैंक फोन कर दिया कि उनके यहां से भूल से 90 हजार रु. अधिक आ गया है। स्टेट बैंक वाले पहले से ही चिंतित थे। उन्होंने कहा कि उन्होंने पांच-छ बार डाकपाल को फोन कर पूछा था और हर बार यही उत्तर दिया गया कि उनके पास एक पाई भी अधिक नहीं आई। इस पर श्री चौधरी ने कहा कि लेखापाल मैं हूं वे नहीं। अत: जो मैं कहता हूं वही ठीक है। आप 90 हजार रु. जो भूल से अधिक आ गया है, वापस ले जावें। जीप में स्टेट बैंक के अफसरों के आने पर उन्हें 90 हजार रु. लौटा दिया गया। इसे अपनी झूठी प्रतिष्ठा क्षति मानकर श्री मुखर्जी ने श्री चौधरी पर अनुशासनहीनता के झूठे आरोप लगाकर उन्हें निलम्बित करवा दिया। श्री चौधरी ने पटना स्थित राज्य के सबसे बड़े अधिकारी को पत्र लिखकर रांची बुलवाया और सारी स्थिति साफ-साफ बताई। इससे श्री मुखर्जी को डाक विभाग से तुरन्त कार्यमुक्त कर दिया गया। श्री चौधरी को 30 हजार रु. पुरस्कार देने का प्रयास किया गया जो उन्होंने अस्वीकार कर दिया और अन्त में डाक तार विभाग की पत्रिका में उनका चित्र एवं विवरण ससम्मान छपा। अर्थशुचिता एक महान् सद्गुण है जिसके बिना व्यक्ति बेईमान हो जाता है। परिवारों में कलह प्रारम्भ हो जाती है। संस्थायें उजड़ जाती हैं और बड़े-बड़े राज्यों एवं साम्राज्यों के भवन खोखले होकर धराशायी हो जाते हैं।

अर्थ की ममता से मुक्त होने की सबसे प्रभावी युक्ति यह है कि हम अर्थ के अर्थ पर विचार करें। अर्थ का सीधा सादा अर्थ है प्रयोजन, उद्देश्य, हित, उद्दिष्ट आदि। भाषा में भी जब हम कोई शब्द बोलते या लिखते हैं तब भी उसका कुछ उद्देश्य (अर्थ) होता है। उसी प्रकार धन अथवा धान्य का संग्रह किया जाता है ताकि वह किसी अर्थ (प्रयोजन) में काम आ सके। जिस शब्द का कोई अर्थ ही नहीं है वह शब्द निरर्थक है और उसको बोलने वाला भी पागल है। इसी प्रकार जो अर्थ किसी अर्थ (महान् उद्देश्य, देशार्थ, धर्मार्थ) में न लग सके वह अर्थ व्यर्थ है और उसका संग्रह करने वाला भी पागल है। अकारण परिश्रम, निरुद्देश्य भटकना, निरर्थक धन-धान्य संग्रह के लिए जीवनभर जोखिम उठाना पागलपन ही कहलायेगा। इस विषय में हमारा स्व रचित सूत्र है—

धर्मविहीनं अर्थमनर्थम्
यज्ञविहीनं अर्थं व्यर्थम्।

अर्थात् जो अर्थ अधर्म से कमाया जाए वह अनर्थकारी है और जो अर्थ किसी के कल्याण में नहीं लगे वह व्यर्थ है। डाकू एवं भ्रष्टाचारी का पैसा अनर्थ है और कंजूस का धन व्यर्थ है। अर्थ को न अनर्थ होना चाहिए और न व्यर्थ। सच्चे अर्थों में अर्थ होने के लिए सार्थक होना चाहिए।

अर्थ अपने आप में स्वतः कोई मूल्य नहीं है। वह परतः मूल्य है। अर्थात् उसका मूल्य उसके अपने ऊपर निर्भर नहीं करता वरन् उसका मूल्य देश-काल, पात्र-परिस्थिति, उद्देश्य और सदुपयोग पर निर्भर करता है। यदि कोई सोने का बड़ा भार लेकर हिमालय पर्वत के हिमाच्छादित शिखर पर पहुंच जाए और सोने का सारा भण्डार देकर एक पानी का गिलास मांगे तो सम्भवतः तुरन्त सुलभ न हो। एक बार अकबर ने बीरबल से प्रश्न पूछा कि मेरे पूरे राज्य का मूल्य क्या है? मोल क्या है? बीरबल ने कहा, यदि सुनसान जंगल में बादशाह पानी के लिए तड़प रहे हों तो पानी के गिलास के लिए वह बड़े से बड़ा कितना मूल्य दे सकते हैं। अकबर ने कहा, आधा राज्य तक। तब बीरबल ने पुनः प्रश्न किया कि यदि पीया हुआ पानी शरीर में अटक जाए और लघुशंका के रूप में बाहर न निकले तो उसे निकालने के लिए बड़े से बड़ा कितना मोल दे सकते हो। इस पर अकबर ने पुनः कहा, शेष का आधा राज्य। बीरबल ने कहा, आपके राज्य की कीमत एक पानी के गिलास से कम ही है।

पात्र बदलने से भी धन-धान्य का मूल्य बदल जाता है। मनुष्य के लिए जो धन सर्वाधिक आकर्षक है उस धन-वैभव से भरे हुए साम्राज्य को ठोकर मारकर सिद्धार्थ सत्य की खोज के लिए निकलता है। जिस शराब के लाखों रुपये के भण्डार के सामने एक बोतल के लिए शराबी बहुत लालायित होकर, अपने कपड़े फड़वाकर ब्लैक मार्केट में प्राप्त करने के लिए पागल-सा हुआ रहता है उस पूरे

भण्डार को बिना मूल्य मिल जाने पर भी कोई सदाचारी साधक एक ठोकर में नाली में फेंक देने के लिए प्रस्तुत रहता है। जो धन बैंक में बंद पड़ा है और किसी के प्राणों पर संकट आने पर उपलब्ध नहीं हो सकता तो उस धन का क्या मूल्य है? अर्थ की सार्थकता किसी सद्उद्देश्य के लिए उसके सदुपयोग में ही है।

जो विषया संतन तजी, नर तासों लपटाय।
जैसे त्यागे वमन को, श्वान स्वाद सों खाय।।

बहुत से लोग अर्थशुचिता का आधा अंश ईमानदारी की कमाई को लेकर ही संतुष्ट हो जाते हैं किन्तु यह तो अर्थ का एक एकांगी पक्ष ही है। अर्थ का दूसरा समान रूप से महत्त्वपूर्ण अंग है उसका समुचित सदुपयोग। एक सेठ लाला तनसुखराम ईमानदारी से व्यवसाय करके करोड़पति बन गए थे वह दूसरे का धन दबाते नहीं थे। अमानत में खयानत नहीं करते थे। शाकाहारी भोजन करते थे और पानी को छानकर पीते थे। मरने पर यमदूतों ने यमराज से पूछा कि उन्हें कहां भेजा जाए? यमराज ने आदेश दिया कि उन्हें कुम्भीपाक नरक में डाला जाए। तनसुखराम ने विस्मित होकर पूछा, क्या धर्मपरायणता का यही फल है? यमराज ने कहा, तुम पर बाल हत्या का आरोप है। पांच नर हत्या, दस गो हत्या और दस नवयुवकों का जीवन भ्रष्ट करने का अपराध है। तनसुखराम ने चीत्कार करते हुए कहा कि यह बिल्कुल झूठ है। मैंने किसी चींटी तक को कष्ट नहीं पहुंचाया। पानी को छानकर पीता रहा। न किसी की जेब काटी न गला काटा फिर मैं किसी की हत्या, हिंसा कैसे कर सकता हूं। तुम्हारे यमलोक के रिकार्ड झूठे हैं। इस पर यमराज ने स्मरण दिलाया कि तुम्हारे पड़ोस में कुछ दूर पर एक वनवासी की झोंपड़ी थी। उसका छोटा बच्चा मीआदी बुखार से पीड़ित था। निर्धन वनवासी के पास न डॉक्टर को बुलाने के लिए कार थी, न डॉक्टर की फीस के पैसे, न ही औषधि के पैसे। तुम्हारे पास कार और पैसे सभी थे किन्तु तुमने उस बच्चे की जान बचाने के लिए कुछ सहायता नहीं की और वह बच्चा मर गया। तुम्हारे पास जो करोड़ों रुपया है क्या उसमें से एक पाई भी लेकर संसार में गए थे और लौटती बार भी क्या छदाम साथ लेकर जाओगे। प्रभु के धन से प्रभु के जीवों की रक्षा न कर उसे अपना कहकर मोह-ममता से तिजोरियों या बैंकों में पड़ा रहने देना व्यर्थ है। इसी प्रकार बिहार में सूखा पड़ने पर 50 व्यक्ति भुखमरी से मर गए, तुम्हारे पास करोड़ों रुपये प्रभु की अमानत के रूप में पड़ा था। समय पर उसका समुचित सदुपयोग करते तो मानव जीवन बच सकता था। इसी प्रकार सूखे के समय दस गाय चारे के बिना तड़प कर मर गई। उन्हें चारा डालने में समर्थ होते हुए भी तुमने ममतावश धन को दबाए रखा। दस नवयुवकों ने मैट्रिक पास करने के पश्चात् कालेज में पढ़ने हेतु तुमसे कालेज में पुस्तकों की सहायता तथा फीस की सहायता के लिए प्रार्थना की किन्तु

तुमने उन्हें डांटकर सहायता से इनकार कर दिया। करोड़ों रुपया कोष में होते हुए तुमने उसका उचित सदुपयोग नहीं किया। नवयुवक आगे न पढ़कर नक्सलपंथियों के चंगुल में फंस गए और उन्होंने जादूगोड़ा की यूरेनियम खदान पर आक्रमण किया। इस तरह उन नवयुवकों का जीवन बर्बाद हुआ तथा समाज की महान् क्षति हुई। अतः धन के उपार्जन की पवित्रता से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है धन का विश्व कल्याणार्थ सदुपयोग। तनसुखराम का धन ईमानदारी की कमाई होने कारण अनर्थ तो नहीं था किन्तु व्यर्थ अवश्य था। तनसुखराम को स्वयं बड़ा पश्चात्ताप हो रहा था कि जिस धन को न वह अपने साथ संसार में लेकर गया था, न अपने लिए प्रयोग कर सका, न दूसरों के लिए सदुपयोग कर सका और न ही अपने साथ वापस ला सका। उस धन का विश्व कल्याण के लिए विनियोग क्यों नहीं कर सका। धर्म से उपार्जित अर्थ का भी यदि धर्मार्थ या यज्ञार्थ सदुपयोग न हो तो भी अर्थ व्यर्थ हो जाता है। अर्थ को अनर्थकारी ढंग से लूटना, ठगना, चुराना यदि पाप है तो अर्थ को व्यर्थ नष्ट कर देना तथा जीवों को उसके कल्याणकारी सदुपयोग से वंचित कर दु:ख, यातना या मृत्यु-मुख में धकेल देना भी बड़ा पाप है। अनर्थ तो बुरा है ही किन्तु व्यर्थ अर्थ भी कंजूसी के कारण, लापरवाही के कारण, विलास के कारण अनेक अनर्थों का कारण बन जाता है।

कृपण शब्द के तीन अर्थ निकलते हैं—

(1) दयनीय, कृपा के योग्य, तरस खाने योग्य। जिसकी स्थिति या कृति देखकर मनुष्य को अफसोस हो कि हाय! ये क्या कर रहा है। उचित कर्तव्य से जी चुराने वाला कृपण कहा जाता है। गीता में अर्जुन भगवान् से निवेदन करता है—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।। 2/7, गीता

अर्जुन कहता है कि कार्पण्य के दोष से क्षात्र स्वभाव दब गया है और मैं वास्तविक कर्तव्य (धर्म) के विषय में मोहितचित्त होकर आपसे पूछ रहा हूं कि मेरा जिसमें अधिक बड़ा कल्याण हो वह मार्ग मुझे बता दीजिये। मैं आपका शरणागत शिष्य हूं, मुझे उचित शिक्षा देवें। यहां कार्पण्य का अर्थ कर्तव्य से मुँह मोड़ने के कारण दयनीय (दया या कृपा के योग्य स्थिति) है। अर्जुन जैसे संसार के शिरोमणि वीर का महायुद्ध के सर्वोपरि श्रेष्ठ सेनाध्यक्ष के रूप में खड़े होने, संसार भर के राजाओं एवं योद्धाओं को अपने धर्मयुद्ध में सहयोग के लिए आमंत्रित कर युद्ध भूमि में शस्त्र सज्जितकर उपस्थित कर लेने के पश्चात् उसका स्वयं गांडीव फेंककर कांपने तथा अश्रुपात करने लगना सचमुच में बड़ी दयनीय स्थिति है।

(2) कार्पण्य का दूसरा प्रचलित अर्थ है—कंजूस। वास्तव में कंजूस भी कर्तव्यच्युति के कारण तन का सहयोग, मन का सहयोग और धन का सहयोग करने से जी-चुराता है। तन का कंजूस आलसी है या कायर है। मन का कंजूस क्षुद्र भाव वाला है। वह स्वार्थी, लोभी या ईर्ष्यालु, धनकृपण, धन या धान्य को ही माई-बाप समझ बैठता है। तो धन के लिए दीन-धर्म, ईमान, मित्र, बंधु, मां-बाप सभी को ठुकरा सकता है। उसके पास धन रहते हुए भी उसके बच्चे कष्ट पाते हैं, बूढ़े माता-पिता बुढ़ापे की तकलीफों से एवं रोगों में सिसकते रहते हैं। पड़ोसी एवं परिचित संकटों में पड़कर बिना मौत मर जाते हैं किन्तु कृपण अपने धन को हवा भी नहीं लगने देता।

(3) कृपण का तीसरा अर्थ कमीना, क्षुद्र, कुत्सितभाव वाला है। वास्तव में मन का कृपण (स्वार्थी, लोभी, ईर्ष्यालु, अनुदार) कमीना होता ही है इसलिए भगवान् गीता में कहते हैं—

कृपणाः फलहेतवः।

अर्थात् जो फल के लोभ से कर्तव्य कर्म करते हैं वे कृपण (कमीने) ही हैं। तन के कृपण, मन के कृपण या धन के कृपण तीनों पर धिक्कार मिश्रित दया आती है क्योंकि वे साधन होते हुए भी साधनों का उचित सदुपयोग न करके अपना और दूसरों का दोहरा अहित कर रहे हैं। दूसरों की स्वास्थ्यहानि, विकासहानि, धनहानि या प्राणहानि तो होती ही है, किन्तु कृपण की इहलोक में प्रतिष्ठाहानि होकर समाज के धिक्कार, तिरस्कार के साथ आत्मविकास की हानि होती है तथा परलोक में परिवारजनों एवं समाज बंधुओं के प्रति उपेक्षा एवं कर्तव्यच्युति के पापों का दण्ड भोगना पड़ता है।

अर्थ को व्यर्थ करने वाले दो प्रकार के लोग हैं—(1) कृपण—धन को अतिशय लोभ के कारण प्रयोग ही नहीं करता (2) विलासी—अपने भोग-विलास में फिजूलखर्ची कर धन को व्यर्थ गंवा देता है। धन को समाज की उपेक्षा कर व्यर्थ जमा रखना अथवा धन को यज्ञार्थ न देना (समाज कल्याणार्थ सदुपयोग न करते हुए स्वार्थ भोग के लिए व्यर्थ लुटा देना दोनों सामाजिक अपराध हैं)। इस प्रकार अर्थ को व्यर्थ गंवाने वाला कृपण या विलासी दोनों अपना लोक-परलोक बिगाड़ लेते हैं।

अमेरीका के नार्थ करुलाइना विश्वविद्यालय के अन्तर्गत वेस्टर्न करुलाइना कालेज है। वहां के निकट Smoking mountains (धूम्राच्छादित पर्वतमाला) है। उन्हीं सुन्दर हरी-भरी पहाड़ियों में एक बहुत उच्चकोटि का पब्लिक स्कूल है। वहां की एक कक्षा में मैंने ममता पर एक मनोविज्ञान का प्रयोग किया। कक्षा के पचास विद्यार्थियों के लिए 50 छोटे प्लास्टिक बक्स उपहार स्वरूप दिए गए। उन बक्सों

में पाकेटबुक, पेन्सिल, रबर, लेमनचूस, चाकलेट, रूमाल आदि छोटी-छोटी वस्तुएं थी। जो बच्चों को प्रिय लगती हैं। बच्चे उपहार प्राप्तकर बहुत प्रसन्न हुए तथा दिनभर अपने अन्य कक्षाओं के साथी-मित्रों को वे उपहार दिखाकर उपहारों की तथा उपहार देने वाले व्यक्ति की प्रशंसा करते रहे। दोपहर बाद अन्तिम घंटी में जब पुनः उसी कक्षा में गया तो सब बच्चों ने आनन्दोल्लास के साथ करतल ध्वनि करके मेरा स्वागत किया। अब मैंने अपील की कि निकट दो-तीन मील की दूरी पर एक नीग्रो बच्चों का विद्यालय है। वे निर्धन हैं तथा कापी, पेन्सिल, डायरी, रबर, लेमनचूस आदि खरीदने में असमर्थ हैं अतः जो बच्चे अपने प्राप्त किए हुए उपहारों में से कुछ सामग्री उनके लिए सहायतार्थ दे सकें तो वे खड़े होकर अपना नाम लिखा दें। इस पर पूरी कक्षा में सन्नाटा छा गया। बच्चों को प्राप्त किए हुए उपहारों में ममता पैदा हो चुकी थी। वे एक-दूसरे का मुख ताकने लगे। यदि जॉन दे तो जेन दे, यदि विलियम दे तो राबर्ट दे, यदि स्टूअर्ट दे तो सेवर्स दे, सभी एक-दूसरे का मुंह ताक रहे थे। तीसरी बार (अंतिम बार) कहने के उपरान्त 3 बच्चों ने टॉफी, रबर, पेन्सिल दान में लिखवाई।

अन्त में मैंने सभी बच्चों को आदेश दिया कि वे अपने सामान के डिब्बे हाथ में उठाकर एक पंक्ति में बंधकर मंच तक चले आवें तथा अपना-अपना बक्स मेज पर रखते जावें। इससे सब बच्चों को बड़ा अचम्भा हुआ। कुछ बोले, श्रीमान्! आपने ये बक्स हमें उपहार स्वरूप दिए थे। अब इन्हें वापस क्यों मांग रहे हैं। मैंने बताया कि यह सब तुम्हारी उदारता की भावना की परीक्षा के लिए एक प्रयोग किया गया था। बच्चे एवं बच्चियां पछताते हुए आकर टेबल पर अपने बक्से जमा कर रहे थे। एक बच्चे ने कहा यदि हमें पता होता कि हमारी उदारता की परीक्षा ली जा रही है तब हम सारा सामान दान कर देते। एक बच्ची ने रोते हुए कहा कि न ये सामान हम घर से लाए थे, न दूसरों के भले के लिए दे सके, न अपने पास ही बचा सके और कमीने मुफ्त में बन गए।

यही स्थिति प्रत्येक मानव की है। न वह धन-धान्य अपने साथ लाया, न साथ वापस ले जा सकता है, जिस प्रभु ने सब दिया है उसके आदेश पर भी प्रभु के जीवों के कल्याण के लिए देता भी नहीं है और सब कुछ छिन जाता है। न कुछ भला किया न कुछ बचाया, कमीना मुफ्त में बन कर पछताया।

स्वामी विवेकानन्द ने ठीक ही कहा है—

The law of nature is to give, give and give. If you don’t give, nature gives you a warning. If you dont hear, nature gives you a stronger warning—give. If you still don't hear the pistol of nature goes and everthing is left here.

कालरूपी डाकू जीवन की पगडंडी पर ताक में खड़ा है। वह उस घाटी से पार किसी को कुछ भी ले जाने नहीं देता। वह सब कुछ छीन लेगा। अतः उसके छीनने से पहले ही धन-धान्य को विश्वकल्याण के लिए सदुपयोग कर लेने में ही बुद्धिमत्ता है। उसी में धन की सार्थकता भी है। अन्यथा समाज दुःखी रह जाएगा, धन व्यर्थ हो जाएगा। हम मुफ्त में कमीने (कृपण) बन जाएंगे और जीवन का सारा परिश्रम निरर्थक हो जाएगा। अर्थ उपार्जन हेतु की हुई सारी तपस्या तथा उठाया हुआ सारा जोखिम निष्फल हो जाएगा। यह जीवन का सबसे बड़ा दुःखांत नाटक बन जाएगा।

धन का एक अर्थ है जमा या जोड़ या योग। यदि सोना, चांदी, पैसा, सम्पत्ति आदि जमा की जाए तो वह भी धन है। किन्तु वह व्यावहारिक जगत् का ही धन है, पारमार्थिक जगत् का नहीं। जगत् में धनसंग्रह करने वाले व्यक्ति को धन्य भाग्यवाला माना जाता है। किन्तु पारमार्थिक जगत् में सोना, चांदी आदि पदार्थ जमा न रहकर छिन जाते हैं। अतः वहां ऐसे धन को सच्चा धन कहा जाता है जो सचमुच सदा जमा रहे।

कबीरा सब जग निर्धना धनवंता नहि कोय।
धनवंता है सोइ नर जिह राम नाम धन होय।।

इस राम नाम के धन को न संसार का कोई चुरा सकता है ना कालरूपी डाकू ही इसे छीन सकता है। यह धन सच्चे अर्थ में सदा धन (जमा) ही रहता है। मीराबाई गाती है—

पायो जी मैंने नाम रतन धन पायो।
वस्तु अमोलक दी मेरे सत् गुरु,
किरपा कर अपनायो।

रहीम ने लोभ एवं ममता पर विजय पाने के लिए संतोष को भी एक महान् धन माना है—

गोधन गजधन बाजिधन और रतन धन खान।
जब आवे संतोष धन सब धन धूरि समान।।

अर्थ का एक नाम द्रव्य भी है, जिसका अर्थ है सदा बहने वाला। इसलिए धन को कंजूस के समान एक स्थान पर बांध कर नहीं रखना चाहिए। जैसे बहते हुए जल में निर्मलता बनी रहती है और बंधा हुआ जल गंदगी और सड़ांध से भर जाता है, उसी प्रकार बहता हुआ द्रव्य विकाररहित रहता है और कंजूस की तिजोरी में बंद या लोभी के मन में कैद पड़ा हुआ धन अनेक विकार पैदा कर देता है। जैसे जल के उचित दिशा में बहने से कल्याण होता है और बाढ़ और सूखा दोनों

अवांछनीय है, उसी प्रकार धन की कंजूसी और फिजूलखर्ची दोनों को रोककर उसे विचारपूर्वक सदुपयोग में लगाना चाहिए। कविवर रहीम ने कहा है—

ज्यों जल बाढ़े नाव में, घर में बाढ़े दाम।
दोनों हाथ उलीचिये, यही सज्जन को काम।।

जिस प्रकार नौका में जल बढ़ जाने पर दोनों हाथ से उलीच कर बाहर फेंकना अनिवार्य होता है अन्यथा नौका डूब जाएगी। उसी प्रकार घर में धन बढ़ जाने पर दोनों हाथ से उसे दान करना चाहिए अन्यथा धन के अंधे वेग में घर के ही डूब जाने की आशंका हो जाती है।

दैनिक संध्या के मंत्रों में हम प्रतिदिन बोलते हैं ओम् करतल करपृष्ठे। करतल हाथ की तली है जो लेने की स्थिति है और करपृष्ठ हाथ की पीठ है जो देने की स्थिति है। इसका एक भाव यह है कि हमारे लेने और देने में ओंकार परमेश्वर साक्षी है। वही हमारे लेने और देने में प्रतिष्ठित है। अत: हमें किसी की अमानत में खयानत कभी नहीं करनी चाहिए। मानव के साथ लेन-देन का धोखा वास्तव में परमेश्वर से ही धोखा है।

इस मंत्र का दूसरा अर्थ यह है कि हम ईश्वर की सौगन्ध से कहते हैं कि हमारा लेना हमारे देने के लिए ही होगा। भगवान् की कृपा से जो आएगा उसे भगवान् के लिए ही भगवान् के प्रति, धर्मार्थ भावना से समर्पित कर दिया जाएगा। जो कुछ करतल में आया वह करपृष्ठ द्वारा दे दिया गया। इस प्रकार धन की ममता बचेगी ही नहीं। वास्तव में भारतीय संस्कृति में संग्रह होता ही है दान के लिए, उपार्जन होता ही सदुपयोग के लिए है, प्राप्ति होती ही है। त्याग के लिए, कमाई होती ही भलाई के लिए है, संघर्ष का अन्तिम उद्देश्य शान्ति ही है। जीवन के समस्त संघर्षों में लगे हुए यदि हम शान्ति की ओर अग्रसर नहीं हो रहे तो सब संघर्ष बेकार हैं। पश्चिम ने जीवन को ही संघर्ष मानकर इसकी व्याख्या की। किन्तु भारत की दृष्टि में जीवन संघर्ष नहीं साधना है। संघर्ष कुछ समय के लिए हमारी साधना का माध्यम हो सकता है किन्तु संघर्ष को ही जीवन का अर्थ और इति मान लेना, उपार्जन को ही जीवन का आदि और अन्त मान लेना, अर्थ को ही जीवन-सर्वस्व मान लेना बहुत बड़ी भूल होगी।

एक आधारभूत प्रश्न है कि सृष्टि में जितना धन है उसका वास्तविक स्वामी कौन है? ईशावास्योपनिषद् ने घोषणा की है—

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृध: कस्य स्विद् धनम्।।

अर्थात् सारी सृष्टि ईश्वर की है। ईश्वर से आच्छादित है। ईश्वर ही इसका स्वामी है। अत: उसी ईश्वर के नाम पर समर्पण करते हुए यज्ञ भावना से उसकी

वस्तु उसके चरणों में चढ़ाकर उसके प्रसाद के रूप में हमें संसार की वस्तुओं को भोगना चाहिए और किसी अन्य की ओर गिद्ध (लोभ) दृष्टि नहीं रखनी चाहिए।

ईश्वर और सृष्टि के सम्बन्ध को समझने के लिए निम्नलिखित बिन्दुओं पर विचार करना चाहिए—

(क) ईश्वर सृष्टिकर्ता है। इस अर्थ में ईश्वर एक कुशल कारीगर मात्र रह जाता है। आलोचक कह सकते हैं कि ईश्वर अधिक से अधिक एक उत्तम बढ़ई या कारीगर के समान होगा। जिस प्रकार उत्तम महल बनाने वाला राजमिस्त्री स्वयं झोंपड़े में ही रहता है। बढ़िया फर्नीचर बनाने वाला बढ़ई स्वयं फर्नीचर का सदुपयोग नहीं कर पाता। उसी प्रकार ईश्वर बढ़ई, कारीगर, राज मजदूर, मिस्त्री आदि रह जाएगा।

(ख) इस आलोचना के निराकरण हेतु कहा जाता है कि ईश्वर केवल सृष्टिकर्ता ही नहीं, सृष्टि का स्वामी भी है। इससे ईश्वर का स्थान कुछ और ऊंचा होता अवश्य है किन्तु ईश्वर एक बढ़िया धनवान इंजीनियर जैसा बन जाता है जो स्वयं बढ़िया महल बनाकर उसमें स्वयं रहता है।

(ग) इससे ऊपर एक और स्थिति है जो ईश्वर की महत्ता को और सुन्दर रूप में दिखाती है। वेद में—

'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'

अर्थात् वह ईश्वर सृष्टि करके सृष्टि के अणु-अणु में स्वयं प्रवेश कर गया। कोई भी कुम्हार घड़ा बनाकर घड़े में प्रवेश नहीं कर सकता। यदि बड़ा घड़ा बनाकर उसमें बैठ भी जाए, यदि बढ़ई बड़ी आलमारी बनाकर उसमें घुस भी जाए, यदि इंजीनियर स्वयं मकान बनाकर उसमें रहने भी लगे तो भी वह उसके अणु-अणु में प्रवेश कभी नहीं कर सकता। ईश्वर की महिमा यह है कि वह सृष्टि का कर्ता भी है, सृष्टि का स्वामी भी है और सृष्टि के अणु-अणु में समाया हुआ भी है।

(घ) आलोचक कह सकते हैं कि जो वस्तु किसी अन्य वस्तु में समा जाती है वह उसमें सीमित एवं बंदी हो जाती है। इसके उत्तर में शास्त्र कहते हैं कि ईश्वर सृष्टि में निर्लिप्त भाव से समाया हुआ है। घड़े को फोड़ देने से, बक्से को काट देने, मकान को जला देने से उसके भीतर बैठा हुआ कुम्हार, बढ़ई या इंजीनियर बच नहीं सकता। किन्तु सृष्टि के महाप्रलय में लय हो जाने पर भी ईश्वर का बाल भी बांका नहीं होता। गुरु तेगबहादुर ने गाया है—

काहे रे वन खोजन जाय
सर्व निवासी सदा अलेपा तो ही संग समाय।

ईश्वर के सृष्टि में सर्वव्यापक होने पर भी प्रत्येक जीव में और अणु-अणु में व्याप्त होने पर भी वह शरीरों या वस्तुओं का बंदी नहीं है।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।। 9/4, गीता

'मुझ अव्यक्त स्वरूप (परमात्मा) के द्वारा यह समस्त जगत् व्याप्त है तथा समस्त प्राणी मुझमें स्थित हैं, (किन्तु) मैं उनमें अवस्थित नहीं हूं।'

भगवान् की सर्वव्यापकता का रहस्य बड़ा विचित्र एवं बुद्धि को चकराने वाला है। भौतिक वस्तुएं एक-दूसरे के भीतर होने या समाने पर सीमित या परिच्छिन्न हो जाती है। किन्तु ईश्वर अभौतिक तत्त्व होने के कारण न सीमित होता है और न बंदी होता है और न लिपायमान होता है। यही उसकी योगमाया का जादूभरा चमत्कार है। यदि ईश्वर को सृष्टि में व्याप्त माना जाए तो व्याप्त-व्याप्ति के सम्बन्ध से सृष्टि एक पात्र के समान बड़ी वस्तु बन जाएगी और उसमें व्याप्त होने के कारण ईश्वर उससे छोटा गिना जाएगा। कोई भी पात्र जिसमें कोई वस्तु समा सकती है, व्याप्त होने वाली वस्तु से कुछ बड़ा ही होता है। लेकिन ईश्वर सृष्टि में समाया है तो सृष्टि को ईश्वर से कुछ बड़ा ही मानना पड़ेगा। किन्तु ईश्वर की व्याप्ति वस्तुओं की व्याप्ति से विलक्षण है। जहां ईश्वर सृष्टि में समाया है वहां इसके विपरीत सारी सृष्टि भी ईश्वर के एक अंश में समायी हुई है।

एकांशेन स्थितो जगत्।। 10/42, गीता

भगवान् कहते हैं कि सारा जगत् मेरे एक अंश में ही स्थित है। इस स्थिति को उपनिषद् एवं गीता में आकाश की उपमा से समझाया गया है। जिस प्रकार सृष्टि में प्रत्येक वस्तु में आकाश व्याप्त है लेकिन निर्लिप्त भाव से व्याप्त है। आकाश उन वस्तुओं में बंदी नहीं होता। साथ ही सारी सृष्टि और सब वस्तुएं आकाश के एक अंश में ही समा जाती हैं। उसी प्रकार ईश्वर सृष्टि में व्याप्त है, सृष्टि से निर्लिप्त है और सारी सृष्टि उसके एक अंश में ही समा जाती है।

भगवान् कहते हैं मैं मूलतः निर्गुण-निराकार, निरुपाधिक ब्रह्म अव्यक्त मूर्ति हूं जिसे इन्द्रियों द्वारा जाना नहीं जा सकता। किन्तु संसार की व्यक्त सृष्टि की प्रत्येक वस्तु मुझ अव्यक्तमूर्ति द्वारा व्याप्त है। जिस प्रकार आकाश का कोई रंग-रूप, व्यक्त स्वरूप नहीं है। वह अव्यक्तमूर्ति के समान ही है किन्तु प्रत्येक व्यक्त मूर्ति में समाया हुआ है। भगवान् कहते हैं सब भूत प्राणी मुझमें स्थित हैं, अर्थात् मुझ परमतत्त्व पर टिके हुए हैं, मेरे पर आधारित हैं, मेरी सृष्टि के नियंत्रण में है, मेरे वश में हैं, इस दृष्टि से मेरे अन्दर ही हैं। किन्तु मैं उन पर व्याप्त रहते हुए भी उन पर आधारित नहीं हूं, उनमें बंदी नहीं हूं। उनकी दया पर नहीं हूं। मैं आकाश

के समान सबको अपने भीतर लिए हूं किन्तु मैं उनमें बंदी नहीं हूं। जिस प्रकार जल की सारी सृष्टि तरंग, ज्वार-भाटा, भाप, बादल, बर्फ, तालाब, नदी, समुद्र, महासमुद्र सब जल पर आधारित है। जल उसमें व्याप्त है किन्तु जल उन पर आधारित नहीं और उनकी दया पर टिका हुआ नहीं है। सब नाम अनामी पर टिके हुए हैं, सब रूप अरूपी पर टिके हुए हैं। सब व्यक्त अव्यक्त पर टिके हुए हैं सब देश अदेशी पर टिके हुए हैं सब काल अकाल पुरुष पर टिके हुए हैं, सब ससीम असीम में टिके हुए हैं। सब मर्त्य अमर वस्तु पर टिके हुए हैं। सारी सृष्टि ब्रह्म पर टिकी हुई है (नासदीय सूक्त)। किन्तु ब्रह्म उस पर टिका हुआ नहीं है। वेद के नासदीय सूक्त में गाया गया है—

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि
न रात्र्या अह्नः आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं
तस्माद्धान्यन्न परः किंचनाऽऽस।।2।।

जिसका भावार्थ यह है—जब जगत् था ही नहीं, न दिन था, न रात, न सूर्य, न चन्द्र, न पृथ्वी, न तारागण, न ऋषि, न जीव, न सृष्टि, न सृष्टिकर्ता। तब भी परमतत्त्व (अव्यक्त मूर्ति) था। विचार कर देखा जाए तो पुत्र के जन्म के बाद ही पिता का जन्म होता है क्योंकि पुत्र के जन्म से ही उसका पितृत्व प्रारम्भ हुआ, उससे पूर्व वह पिता नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार जगत् पिता या सृष्टिकर्ता का भाव सृष्टि बनने के बाद ही पैदा होता है। अतः सृष्टि और सृष्टिकर्ता दोनों सापेक्ष शब्द हैं। पिता और पुत्र दोनों सापेक्ष, एक-दूसरे पर अवलम्बित हैं। निरपेक्ष ब्रह्म वह अव्यक्तमूर्ति परमतत्त्व है जो किसी की अपेक्षा नहीं रखता और किसी पर अवलम्बित भी नहीं है। वह स्वयं से स्वयं की महिमा में ही महान् है। वह स्वयंभू है। भगवान् आगे कहते हैं—

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः।। 9/5, गीता

'(परन्तु वास्तव में ये समस्त) प्राणी भी मुझमें स्थित नहीं है। तू मेरे इस ईश्वरीय योगशक्ति (अर्थात् घटना) को देख कि मेरा आत्मा (अर्थात् स्वरूप) प्राणियों का भरण-पोषण करने वाला तथा प्राणियों का उत्पादन-वर्धन करने वाला होते हुए भी प्राणियों में स्थित नहीं है।'

भगवान् की अधिक बड़ी जादूगरी यह है कि जिस सृष्टि को वे रचते हैं उस सृष्टि के वे स्वामी हैं। जिस सृष्टि के अणु-अणु में व्याप्त हैं, जिस सृष्टि का वे पालन करने वाले हैं उस सृष्टि से उनका कुछ भी बंधन नहीं है। ऊपर वाले श्लोक

में भगवान् ने कहा कि सब भूत-प्राणी मुझ पर टिके हुए हैं, किन्तु मैं उन पर आश्रित नहीं हूं। अब भगवान् इससे ऊंची बात कहते हैं कि मेरी योगमाया का खेल तो देखो कि वे भूत प्राणी या पंच महाभूत भी मेरे में नहीं हैं तथा मेरे पर आश्रित नहीं हैं। यदि भगवान् के स्वरूप में भौतिक तत्त्व हो तभी तो पंच महाभूत एवं अन्य भूत-प्राणी अपनी सत्तास्फूर्ति के लिए उस पर आधारित हों। जब भगवान् में भौतिक तत्त्व है ही नहीं तो उस अभौतिक तत्त्व परब्रह्म परमेश्वर पर भौतिक वस्तुएं क्यों और कैसे निर्भर है? घी दूध पर निर्भर है क्योंकि दूध में घी का तत्त्व छिपा हुआ है। किन्तु जिस पत्थर में घी का अंश है ही नहीं, घी उस पर निर्भर कैसे कर सकता है। भगवान् की इस जादूगरी को माया अथवा योगमाया कहते हैं। कारण-ब्रह्म सृष्टिकर्ता है किन्तु शुद्ध ब्रह्म का सृष्टि से क्या सम्बन्ध है? भगवान् की संकल्प शक्ति ही माया के रूप में तीन गुणों और पंच महाभूतों को रचती है और सृष्टि का विस्तार करती है। शुद्ध ब्रह्म नितान्त निर्लिप्त भाव से उसका तमाशा देखता है। कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड पलभर में उसके संकल्प से उदय और अस्त होते रहते हैं। किन्तु ब्रह्म का उनसे कोई सम्बन्ध नहीं है। वेदान्त के ऊंचे ज्ञान में एक ब्रह्म को छोड़कर अन्य किसी की सत्ता बचती ही नहीं इसलिए ज्ञान की अन्तिम कसौटी पर जिस सृष्टि की सत्ता ही नहीं है उसे परमसत्यरूप ब्रह्म पर टिका हुआ कैसे मान लें। जब भूतों की सत्ता ही नहीं तो उनके टिकने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। वंध्यापुत्र के विवाह के भोज में खाये हुए लड्डुओं के कारण अजीर्ण की औषधि मांगना मूर्खता है। स्वप्न में सोने के पर्वतों को देखकर जीव लोभ में पागल हो उठता है और जगाने पर उन्हीं पर्वतों की खोज के लिए भाग-दौड़ करता रहता है और ज्योतिषियों तथा विद्वानों से सोने के पर्वतों का रहस्य पूछता रहता है कि वे पर्वत किस देश-प्रदेश में है, किस भूमि पर कितनी ऊंचाई पर हैं, किस पर टिके हुए हैं। वहां तक पहुंचने के लिए कौन दिशा में जाना पड़ेगा आदि। तो ये सारे प्रश्न निरर्थक हैं क्योंकि जब वे पर्वत हैं ही कल्पित तो उनकी खोज में माथा खपाना मूर्खता ही है। यह असत् सम्वाद केवल भ्रान्तिकाल में ही प्रतीत होता है। भ्रान्ति दूर होने पर इसका अस्तित्व ही नहीं बचता है। जब तक भ्रान्ति रहती है तब तक यह प्रतीति किसी सत् वस्तु पर ही आधारित रहती है जैसे सर्प की भ्रान्ति अंधकार काल में रज्जु पर निर्भर करती है। सर्प की सत्ता रज्जु की सत्ता के कारण है। किन्तु भ्रान्ति दूर होने पर, प्रकाश हो जाने पर जब अपनी मूर्खता नष्ट हो गई तब सर्प की सत्ता ही लुप्त हो गई। उस स्थिति में यह प्रश्न करना कि सर्प किस पर आधारित है, मूर्खता ही है। अज्ञान काल की मिथ्या प्रतीति को ज्ञानकाल में जब उसकी सत्ता ही लुप्त हो गई उस समय उसको खोजना उसका आधार खोजना बाल बुद्धि का खेल कहा जाएगा। अंधेरे में जिस बालक को बड़ा भय लगता था, करोड़ों योजन तक फैला हुआ अंधेरा उसे दैत्य के समान डराता था।

प्रकाश हो जाने पर उस अंधकार का सिर-पैर खोजना बाल बुद्धि का ही खेल है। पंचभूतों का सारा संसार ही तीनों कालों में असत्य ही है और ब्रह्म सर्वकाल में सदा सत्य है। अत: सत् में असत् को खोजना सत् वस्तु का अपमान है।

ईशावास्य में जो मंत्र दिया है उसमें व्यवहार काल में जो माया प्रतीत होती है उस माया के स्वामी भी परमेश्वर ही हैं। सारी प्रकृति का स्वामी परमेश्वर है। लक्ष्मी का स्वामी नारायण है, ऐश्वर्य का स्वामी ईश्वर है, वैभव का स्वामी विभु है। विशेषता यह है कि वह स्वामी निर्लिप्त और निष्काम स्वामी है। भगवान् गीता में कहते हैं—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।। 3/22, गीता

'हे पार्थ! तीनों लोकों में मुझे न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई अप्राप्त वस्तु ही प्राप्त करनी है। तो भी मैं कर्म में ही लगा रहता हूं।'

अर्थात् मुझे कुछ भी प्राप्त करने योग्य नहीं है जो मुझे प्राप्त न हो और जिसके लिए मुझे कर्म चेष्टा करनी पड़े। किन्तु फिर भी मैं पूर्णकाम होते हुए भी लोक संग्रह के लिए कर्म करता हूं। जब सब सम्पत्ति प्रभु की है तब अर्थ के प्रति हमारा दृष्टिकोण ही बदल जाना चाहिए। ईशावास्य के अनुसार अर्थ का वास्तविक स्वामी परमेश्वर ही है। हम मात्र इसके न्यासी (Trustee) तथा प्रयोक्ता हैं। जितना धन प्रभु ने हमें दिया है यह विश्वास (Trust) करके दिया है कि हम उस ऋण का निजी हित, परिवार हित, समाज हित, राष्ट्र हित और विश्वहित के लिए ही नहीं वरन् जीवमात्र के अधिक से अधिक बड़े कल्याण के लिए सदुपयोग करेंगे। हमारे सारे अर्थ व्यापार का उद्देश्य होना चाहिए भगवान् के इस विश्वास के योग्य बनना। यदि हम किसी सेवक को दस पैसे का सामान लाने के लिए कहते हैं और वह 10 पैसे के विश्वास को निभाता है तो हम उसका एक रुपया तक का विश्वास करने लग जाते हैं। एक का ठीक निभाने पर 10 का, 10 का ठीक निभाने पर 100 का... 1000.... 100000... फिर लाखों रुपयों का विश्वास करने लग जाते हैं।

ठीक इसी प्रकार हम अपने को भगवान् का विश्वासपात्र सिद्ध करें और भगवान् की निधि को भगवान् के आदेशानुसार भगवान् के जीवों के अधिक से अधिक बड़े कल्याण के लिए नि:स्वार्थ, निरहंकारभाव (यज्ञभाव) से लगा सकें तो भगवान् का सच्चा प्रेम और आशीर्वाद प्राप्त कर सकेंगे। जैसे विश्वास बढ़ते-बढ़ते व्यक्ति घर का अंग बन जाता है और उस पर हम प्राणों का विश्वास भी करने लगते हैं। उसी प्रकार भगवान् का अर्थविश्वास ठीक-ठीक निभाते-निभाते भगवान् के अपने बन जाते हैं और भगवान् हमें अपना आत्मा ही बना लेते हैं। इस प्रकार निर्लिप्तभाव से अर्थव्यापार से भी मोक्ष का राजपथ खुल जाता है। हमें निरन्तर यह

भाव रखना चाहिए कि सृष्टि के उपवन के मालिक तो भगवान् ही हैं, हम तो माली के समान हैं। मालिक ने पूरा उपवन हमारे विश्वास पर छोड़ रखा है। हमें उपवन में रहना, उपवन की सुरक्षा करना, उपवन को सुन्दर सजाना, संवारना, उपवन का सौन्दर्य एवं सुगन्धि का निर्लिप्तभाव से आनन्द लेना, सब कुछ का अधिकार है। कई दृष्टियों से मालिक की अपेक्षा माली फुलवारी का सुख अधिक ही प्राप्त करते हैं किन्तु हमें सावधानी यही रखनी चाहिए कि हम भूल से अपने आपको मालिक न मानें। इसमें बड़ा लाभ यह है कि आनन्द तो मालिक से भी अधिक मिलेगा पूरी फुलवारी का तथा कोठी का उपयोग हम दिन-रात कर सकेंगे किन्तु न मिल्कियत की परेशानी में पड़ेंगे न कर (टैक्स) की सिरदर्दी झेलनी पड़ेगी, न अन्य सम्पत्ति वालों के साथ झगड़ों में कोर्ट-कचहरी की ठोकर खानी पड़ेगी। मालिक बनने में परेशानियां ही परेशानियां हैं। माली या Trustee बनने में कार्य अधिक अच्छा होता है। सिरदर्द कम हो जाता है।

Trusteeship की भावना हो जाने पर सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि हम मोहरूपी राक्षस से बचे रहते हैं। हमारे मन को अहंता और ममतारूपी राक्षस के चंगुल में पड़ने का अवसर नहीं रहता। जब सृष्टिरूपी उपवन मेरा है ही नहीं तब अहंकार को स्थान ही कहां बचता है? जब मैं मालिक नहीं तब मेरी ममता भी नहीं हो सकती। शरणानन्दजी ने अपने एक अमर गीत में गाया है—

मैं नहीं, मेरा नहीं यह तन किसी का है दिया।
जो भी अपने पास है वह धन किसी का है दिया।।1।।

देने वाले ने दिया, वह भी दिया किस शान से।
मेरा है, यह लेने वाला कह उठा अभिमान से।।2।।

मैं-मेरा यह करने वाला मन किसी का है दिया।
मैं नहीं, मेरा नहीं यह तन किसी का है दिया।।3।।

जो मिला है वह हमेशा पास रह सकता नहीं।
कब बिछुड़ जाए यह कोई राज कह सकता नहीं।।4।।

जिन्दगानी का खिला मधुवन, किसी का है दिया।
मैं नहीं, मेरा नहीं यह तन किसी का है दिया।।5।।

जग की सेवा, खोज अपनी प्रीति उनसे कीजिये।
जिन्दगी का राज है, यह जानकर जी लीजिये।।6।।

साधना की राह पर, यह साधन किसी का है दिया।
जो भी अपने पास है, वह सब किसी का है दिया।।
मैं नहीं, मेरा नहीं यह तन किसी का है दिया।।7।।

मेरा नहीं—यह भावना ही यज्ञभावना है।

'इदं न मम' इस भावना से निर्लिप्ततापूर्वक, निरहंकारपूर्वक किया गया कर्म सुन्दर एवं कर्ता को बांधने वाला नहीं होगा।

वर्तन्तु ऋषि के शिष्य ब्रह्मचारी कौत्स ने गुरु से शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् उन्हें गुरु दक्षिणा देने का संकल्प किया। गुरु ने उसे निर्धन जानकर कुछ भी गुरुदक्षिणा नहीं मांगी। किन्तु कौत्स के बार-बार आग्रह करने पर गुरु ने उसे एक परीक्षा में डाल दिया। गुरु ने कहा—मैंने तुम्हें चौदह विद्यायें पढ़ाई है, यदि गुरुदक्षिणा देना चाहते हो तो चौदह लाख स्वर्णमुद्रायें लाकर दो। ब्रह्मचारी कौत्स गुरुदक्षिणा की निधि का संग्रह करने के लिए महाराजा रघु के पास गया। उन दिनों रघु महाराज दिग्विजय करने के पश्चात् अपना सर्वस्व दान करके रानीसहित जंगल में तपस्या कर रहे थे। ब्रह्मचारी कौत्स उन्हें राजधानी में न पाकर जंगल में खोजने हेतु गए। वहां उनकी फूस की झोपड़ी तथा मिट्टी के पात्र को देखकर कौत्स लज्जित होकर वापस लौटने लगा। किन्तु रघु महाराज ने उसे पुकार कर कहा, अपने आने का उद्देश्य नि:संकोच भाव से कहो। कौत्स ने झिझकते हुए अपना प्रयोजन बताया। महाराज रघु ने कहा—इस समय राजकोष में तो कुछ बचा ही नहीं। मैं जंगल में तपस्या कर रहा हूं। किन्तु द्वार से अतिथि खाली हाथ नहीं जाना चाहिए। धनराज कुबेर ने बहुत वर्षों से हमारा कर नहीं चुकाया था। उनसे मेरी ओर से जाकर कहो और गुरुदक्षिणा हेतु स्वर्णमुद्रा ले आओ। कुबेर ने उत्तर दिया कि राजा रघु स्वयं वनवासी बने जंगल में रह रहे हैं अत: उनका ऋण नहीं दूंगा तो वे क्या बिगाड़ लेंगे। इस पर रघु महाराज ने ब्रह्मचारी के हाथ से संदेश भेजा कि चाहे मैं इस समय एक निर्धन वनवासी के रूप में तपस्या कर रहा हूं किन्तु जिस धनुष से मैंने दिग्विजय किया है वह अभी भी मेरे पास है। इस पर कुबेर ने भयभीत होकर विजयादशमी पर एक शमीवृक्ष की ओट से स्वर्ण मुद्रायें बरसा कर सोने का ढेर लगा दिया। ब्रह्मचारी कौत्स अपनी गुरुदक्षिणा की मुद्रायें गिनकर ले जाने लगा तो राजा रघु ने कहा कि मैं तपस्या में लगा हुआ हूं। मैं धन को छू नहीं सकता। सारा सोने का ढेर तुम्हारे निमित्त से ही बरसा है इसलिए यह मेरा नहीं, सब तुम्हारा है। सब ले जाओ। ब्रह्मचारी ने कहा, महाराज! मैं तपस्वी ब्रह्मचारी हूं। मुझे केवल गुरुदक्षिणा हेतु स्वर्णमुद्राओं की आवश्यकता थी। कुबेर ने आपका ऋण चुकाया था। मैं एक भी अतिरिक्त मुद्रा स्पर्श नहीं कर सकता। यह धन मेरा नहीं, आपका है। बीच में सोने का ढेर लगा था और राजा और ब्रह्मचारी के बीच में बड़ा मीठा विवाद चल रहा था 'इदं न मम' अर्थात् यह मेरा नहीं है। आजकल कंचन और कामिनी को लेकर सभी विवादों का मूल मंत्र होता है 'इदं मम'—यह मेरा है। अन्त में

सोने का ढेर न रघु ने छुआ न ब्रह्मचारी कौत्स ने। वह निर्धन प्रजाओं में बांट दिया गया। धन के प्रति निर्लोभ यज्ञभावना हो जाने पर यह धरती स्वर्ग बन जाए। जब भारत में ऐसी भावना थी तब भारत स्वर्ग से भी ऊंचा था। जहां स्वर्ग के देवता भी जन्म पाने के लिए तरसते रहते हैं।

दो भाइयों में चित्रकूट में इसी प्रकार का एक मीठा संवाद इतिहास में अमर हो गया। राम कहते थे कि भरतजी! पिता के मौन आदेश और माता कैकयी के वचन पर फूल चढ़ाते हुए मैंने वनवास स्वीकार किया और आप जैसे प्राणप्यारे भाई के लिए राज्य छोड़ा। अत: भरतजी राज्य मेरा नहीं आपका है। भरतजी राम से कहते हैं रामदुहाई, आपके चरणों की सौगन्ध, ऐसा पाप मुझ से मत करवाइये। यह राज सदा आपका है और आपका ही रहेगा। दोनों भाइयों के अन्तर से 'इदं न मम' की भावना गूंज रही थी। दोनों भाइयों ने मानों राज्य को कन्दुक (गेंद) बनाकर परस्पर एक-दूसरे की ओर ठुकरा कर फेंकना प्रारम्भ किया। दोनों खिलाड़ी भी इतने जागरूक थे कि गोल कोई भी नहीं होने देता था। अन्त में निर्णय किया गया जिससे कि भाइयों का प्रेम अमर बना रहे और राज्य की कीमत लगाई दो जूते। 14 वर्ष तक अयोध्या के सिंहासन पर राम की पादुका राज करती रही। अर्थ के प्रति निर्लोभ वृत्ति एवं साम्राज्य के प्रति यज्ञभाव का इससे श्रेष्ठ उदाहरण सारे विश्व के इतिहास में अन्यत्र नहीं मिलता। भरतजी की अर्थ-व्यापार में इस निर्लोभ वृत्ति का गुणगान करते हुए गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं—

रमा विलासु राम अनुरागी।
तजत वमन जिमि जन बड़भागी।। 2/323/8, मानस

अर्थात् राम के सच्चे अनुरागी बड़भागी पुरुष रमा (लक्ष्मी) के भोग विलास को वैसे ही त्याग देते हैं जैसे विचारवान मनुष्य वमन को त्याग देता है (फिर उसकी ओर देखते भी नहीं)।

कविवर रहीम बड़े गुणग्राहक दानी थे। एक बार गंगकवि की एक कविता से प्रसन्न होकर 36 हजार मुहरें दान कर दी। किन्तु दान देते समय उनके नेत्र नीचे ही नीचे झुकते जाते थे।

इस पर गंगकवि ने प्रश्न किया—

सीखे कहां जनाब जू ऐसी देनी देन।
ज्यों-ज्यों कर ऊंचो उठे त्यों-त्यों नीचे नैन।।

इसके उत्तर में रहीम कवि ने आंखों में अश्रुजल भर कर कहा—

देनहार कोई और है भेजत है दिन रैन।
लोग भरम हमपै करैं ताते नीचे नैन।।

निरहंकार एवं निर्मोह के भाव का यह एक उज्ज्वल दृष्टान्त है। आजकल दानदाता के दान से अधिक भारी तो उसका अहंकार ही हो जाता है जो दाता और ग्रहिता, दोनों को ही ले डूबता है।

सेठ भामाशाह ने अपनी तथा अपने पूर्वजों की सारी कमाई जब निर्लिप्त भाव से देश हितार्थ राणा प्रताप के चरणों में चढ़ा दी तब राणा प्रताप के अचम्भे से पूछने पर भामाशाह ने कहा कि यह सम्पत्ति मेरी नहीं है। यह आपकी ही है। देश की सम्पत्ति देश के काम आ जाए तो सम्पत्ति का सदुपयोग और संग्रहकर्ता का भी सौभाग्य है। अर्थ किसी अर्थ (उद्देश्य) में लग जाए तो उससे बड़ी सार्थकता, सफलता और क्या हो सकती है।

यदि हम प्रभु की सम्पत्ति को मोहवश अपना मान बैठे तो एक बड़ा अपराध हो जाए। संसार में लौकिक न्याय में भी यदि कोई मुनीम या कारिन्दा किसी सेठ का धन लेकर मुंबई, कोलकाता, सेठ के आदेशानुसार माल खरीदने के लिए भेजा जाए और वहां जाकर वह स्वयं ही मालिक बन बैठे और वास्तविक मालिक के साथ धोखा करे तो उसे निश्चित दंड और जेल की यातना भोगनी पड़ती है।

जब लौकिक न्यायविधान में अमानत में खयानत करने वाले व्यक्ति के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था है तब ईश्वर की अमानत में खयानत करने वाले, वास्तविक मालिक को भूलकर स्वयं मालिक बन बैठने वाले कृतघ्न धोखेबाज लोगों के लिए कितना बड़ा दण्ड होगा। लौकिक न्याय में तो कई बार लोग चालाकी भरी वकालत, रिश्वत अथवा पैरवी से छूट जाते हैं किन्तु सर्वशक्तिमान जो सब जीवों का कच्ची डोरी पर शासन कर रहा है उसके साथ धोखा करके उसकी अमानत में खयानत करके उसके स्थान पर स्वयं को मालिक दिखाने का दम्भ करके हम कहां टिक सकते हैं। इसलिए समस्त अर्थ-व्यापार में प्रभु को मालिक और अपने को विश्वासी (न्यासी) मानकर कर्तव्यपालन करने में इहलोक में सबका बड़े से बड़ा कल्याण होगा तथा परलोक में हम मोहमुक्त होने के कारण भी मोक्ष के अधिकारी बन जाएंगे।

ईशावास्य के प्रथम मंत्र के प्रथम चरण में यही कहा है—ईश्वर ही सारी सृष्टि का स्वामी है, वही संरक्षक है। सारी सृष्टि उसकी गोद में उसके द्वारा आच्छादित है, उससे व्याप्त है अर्थात् उसके एक अंश में टिकी हुई है।

दूसरी पंक्ति के प्रथम चरण में कहा है कि उस सर्वेश्वर, अखिलेश्वर, परमेश्वर के नाम पर समर्पण करके उसके प्रसाद के रूप में संसार की वस्तुओं को भोगो। इसी में बगीचे के माली का भाव और Trusteeship का भाव तथा यज्ञभावना छिपी हुई है। दूसरी पंक्ति के अंतिम चरण में कहा है कि—

मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।

अर्थात् किसी के धन की ओर गिद्धदृष्टि (Greed) लोभदृष्टि मत रखो।

सामान्य अर्थ में चोरी से बचने वाला संदेश है। किन्तु गंभीर अर्थ में यह कहा गया है कि धन किसका है? जो तुम लोभ दृष्टि रखते हो अर्थात् यह धन तेरा नहीं है। सब धन परमेश्वर का है। इसलिए यदि तू चोरी करता है तो परमेश्वर की ही चोरी कर रहा है, किसी व्यक्ति की नहीं। व्यक्ति के धन को चुराने पर कठोर दण्ड मिलता है तब परमेश्वर के धन को चुराने का कैसा दण्ड मिलेगा इसकी कल्पना की जा सकती है। फिर चोरी द्वारा जिस धन को थोड़ी देर के लिए तुम अहंकार से मेरा-मेरा कहते हो वह तुम्हारा है ही नहीं और रहेगा भी नहीं। क्योंकि सब धन प्रभु का है—'कस्य स्विद्धनम्' में से निम्नलिखित ध्वनि निकलती है—

(क) विचार करो कि यह धन किसका है? जिसका धन चुरा रहे हो उसका है ही कहां? यह तो प्रभु के भण्डार में डाका है।

(ख) मानो कि चोरी करने का फल कारावास के रूप में मिलता है। तब भगवान् की चोरी करने का फल संसार रूपी कारावास में बंदी होकर कष्ट भोगने के रूप में मिलता है।

(ग) गिद्ध आसमान में बहुत ऊंचा उड़ता है किन्तु उसकी दृष्टि धरती पर पड़े हुए मांस के लोथड़े में लगी रहती है। ज्योंही वह कोई गला-सड़ा मुर्दा देखता है तो तुरन्त झपट्टा मारकर उसे उड़ा ले जाता है। इसी प्रकार विचारों के संसार में बहुत ऊंची बुद्धि की उड़ानें भरने वाले लोग गिद्ध के समान जीवन के तुच्छ लोभों पर नजर लगाए रहते हैं और ज्योंही स्वार्थपूर्ति का अवसर मिलता है वे आमिषभोजी गिद्ध के समान ही नीचे आकर तुरन्त लोभ का झपट्टा मारते हैं। बड़े-बड़े विद्वानों को, ज्ञान बघारने वाले लोगों को, शिक्षाशास्त्रियों को, राजनेताओं को प्रलोभन अथवा स्वार्थपूर्ति का अवसर आने पर सारे आदर्शवाद को भुलाकर नीचे गिरते देखा जाता है।

संस्कृत के गृध शब्द से ही अंग्रेजी और यूरोपीय भाषाओं में Greed शब्द बना है। इसका अर्थ ही लोभ लालच है। इसमें ध्वनि यह है कि अच्छा भला सज्जन व्यक्ति जब लोभ के वशीभूत हो जाता है तब मनुष्यता से गिरकर सड़े मुर्दे खाने वाले गिद्ध के स्तर पर आ जाता है। पशुओं में कुत्ता, जंगली पक्षियों में गिद्ध और ग्रामीण पक्षियों में कौआ ये सब विष्ठा भोगी, आमिषभोगी होने के कारण पशु-पक्षी जाति में शूद्र एवं चाण्डाल माने गए हैं। मानव जिस प्रकार की प्रवृत्ति दर्शाता है उससे उसकी भावी योनि का अनुमान लगाया जा सकता है।

जिस धन के लोभ के लिए मानव इतना लोभ पाप का जोखिम लेता है वह धन अन्ततोगत्वा उसके पास टिकने वाला नहीं है। इसलिए मानव की स्थिति बड़ी दयनीय हो जाती है—

दिन गंवाया दूनी से दूनी न चाली साथ।
पांव कुल्हाड़ा मारा मूरख अपने हाथ।।

जिस अर्थ के लिए जीवन भर अनर्थ किए वह अर्थ भी अपना न हुआ। यह दोनों ओर से घाटे का ही सौदा है।

गुरु नानकदेवजी ने एक साहूकार के विषय में सुना कि वह बहुत बड़ा धनाढ्य है। किन्तु साथ ही बहुत बड़ा कंजूस भी है और समाजसेवा के लिए कुछ भी व्यय नहीं करता। गुरु नानकदेव ने उससे कहा, मैं मक्का मदीने की यात्रा पर जा रहा हूं। मैं अपनी एक सूई आपके पास अमानत के रूप में रख जाता हूं, लौटने पर ले लूंगा। साहूकार ने कहा; आप बहुत दूर जा रहे हैं, आप वृद्ध भी बहुत हो चुके हैं, आपकी अमानत कहां तक सम्हालता रहूंगा। यदि आप न लौटे तब इसका क्या करूंगा। गुरुनानक ने कहा, यदि मेरा शरीर छूट गया तो मैं यह सूई आपसे परलोक में ले लूंगा। साहूकार ने कहा, परलोक में इसे कैसे ले जाऊंगा। गुरुजी ने कहा, जैसे तू अपना अपार धन, रत्न भण्डार परलोक ले जाएगा। उसमें मेरी एक सूई भी ले आना। इससे कंजूस धनाढ्य की आंखें खुल गई। उसे समझ आ गया कि यह धन मेरा नहीं है। न मेरे साथ आया है और न मेरे साथ जाएगा।

धन का एक पर्याय सम्पत्ति है। जिसका अर्थ है सफलता, समृद्धि, प्राचुर्य, अनुकूलता आदि। पत का अर्थ होता है गिरना या घटना। सम्पत्ति का शाब्दिक अर्थ हुआ अच्छी प्रकार से घटना। अच्छी प्रकार से प्राप्त होना या अच्छी प्रकार से बरसना। मानव बिना भगवान् की प्रपत्ति के सीधे सम्पत्ति चाहता है और मिलती है उसे विपत्ति। जब लक्ष्मी नारायण की सहचरी है तो नारायण की शरणागति के बिना लक्ष्मी को चाहना, उस पर अधिकार जताना नितान्त अनुचित एवं पापपूर्ण है। यदि किसी पति की अनुमति एवं सहमति के बिना हम उसकी धर्मपत्नी के प्रति लोभ की कामना करें तो हम अपने लिए जान-बूझकर विपत्ति को ही बुला रहे हैं। जब हम प्रभु के चरणों में अपने आपको निष्काम भाव से समर्पित कर देते हैं तब हम प्रभु की समस्त सम्पत्ति के अपने आप उत्तराधिकारी बन जाते हैं प्रभु अपने भक्तों को पुत्रवत् अपने हृदय से लगा लेते हैं तथा अपना सब कुछ उन पर निछावर कर देते हैं। सच्चा भक्त भी लक्ष्मी माता या प्रकृति माता से पोषण मात्र चाहता है उस पर स्वामित्व नहीं। प्रकृति हमारे पालने के लिए है, हमारे भोगने के लिए नहीं। 'ईशा वास्यामिदं....' इस मंत्र में 'भुंजीथाः' का अर्थ भी पालन ही है, किसी अमर्यादित अर्थ में भोग नहीं। भुज धातु से एक संज्ञा बनती है भोज या भोजन और दूसरी संज्ञा भोग। भोजन निर्वाह के लिए होता है और भोग विलास के लिए।

अर्थ का एक अन्य पर्याय है वित्त। जिसका अर्थ प्राप्त, ज्ञात, विचारित, परीक्षित, प्राप्त वस्तु, अधिकार, धन, सम्पत्ति। धातु के रूप में वित्त का अर्थ है जानना या प्राप्त करना। शास्त्रवित्त का अर्थ है शास्त्र को जानने वाला, वेद वित्त का अर्थ है वेद को जानने वाला, धीरे-धीरे वित्त शब्द ज्ञात या ज्ञानप्राप्त के स्थान पर धनप्राप्त या धनप्राप्ति के लिए रूढ हो गया। मानव की तीन बड़ी एषणायें, कामनायें होती है। **वित्तैषणा** अर्थात् धन प्राप्ति की कामना। **पुत्रैषणा** अर्थात् परिवार एवं संतान प्राप्ति की कामना। **लोकैषणा** अर्थात् लोक में प्रसिद्धि की कामना। वित्तैषणा और पुत्रैषणा ममता को बढ़ाने वाली और लोकैषणा अहंता को बढ़ाने वाली है। धन को अतिशय महत्त्व देने से समाज के जीवन मूल्य बदल जाते हैं। अर्थपरायण समाज में धनवान को ही बड़ा, कुलीन, समाज में प्रतिष्ठित, गुणवान आदि सब गुणों से मण्डित माना जाने लगता है। यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है। भर्त्तृहरि ने ऐसे अर्थपरायण समाज पर व्यंग्य करते हुए लिखा है—

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः,
स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः
सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ति।। 41, नीतिशतक

अर्थात् जिसके पास वित्त है वह कुलीन माना जाता है। वही पण्डित, ज्ञानी माना जाता है वही गुणज्ञय भी समझा जाता है, वही वक्ता भी मान लिया जाता है और वही दर्शनीय गिना जाता है। इस प्रकार अर्थपरायण समाज में, सोने में सब गुण मान लिए जाते हैं। इसके विपरीत भारतीय धार्मिक परम्पराओं में सोने में भी कलयुग का वास माना गया है। भारत के संतों ने सोने की मादकता को धतूरे से भी अधिक भयानक माना है—

कनक कनक ते सौ गुणी मादकता अधिकाय।
वह खाये बौराय नर यह पाये बौराय।।

अर्थात् कनक (सोना) कनक (धतूरे) की अपेक्षा सौ गुणा अधिक मादकता पैदा कर देता है। धतूरे को खाने से आदमी पागल हो जाता है किन्तु सोने को तो पाने से ही पगला जाता है।

धन का उर्दू एवं फारसी में नाम है दौलत। इसका व्यंग्यात्मक अर्थ यह किया जाता है कि ये दौलत दो लात मारती है। जब आती है तो एक लात मारकर मनुष्य की गर्दन में घमण्ड की अकड़ पैदा कर देती है और जब जाती है तो दूसरी लात मारकर अकड़ी हुई गर्दन को तोड़ जाती है। अतः दौलत के नशे में पागल होकर अधिक अकड़ जाना समाज के लिए बुरा है और दौलत के छिन जाने पर छाती

फटना स्वयं हमारे लिए घातक है। अकड़ में हम अहंता में बंध जाते हैं और धन के चले जाने पर हम ममता से छटपटाने लगते हैं।

आज आधुनिक पाश्चात्य अर्थशास्त्र घोषणा करता है कि जीवन का सर्वोपरि लक्ष्य अर्थोपार्जन ही है। वे दूसरी चेतावनी देते हैं कि पूरे अर्थशास्त्र के अध्ययन में धर्मशास्त्र या नीतिशास्त्र का कोई हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। कार्लमार्क्स भी इतिहास की अर्थशास्त्रीय व्याख्या करके घोषित करता है कि नैतिकता और धर्म सब अर्थ की दास-दासियां हैं। महाभारत काल में पापी कौरवों का पक्ष लेने वाले ने सफाई देते हुए यहां तक कह डाला कि—

अर्थस्य पुरुषो दासः।

अर्थात् मनुष्य तो अर्थ का ही दास होता है। हृदय से पांडवों की विजय कामना करते हुए भी भीष्म पितामह ने कौरवों का अन्न खाने के कारण उनका पक्ष लिया। गीता ऐसे ही धर्मसंकट का उत्तर देने के लिए गाई गई। भगवान् ने एवं समस्त ऋषिपरम्परा ने चेतावनी दी थी—धर्म और अर्थ की टक्कर में मानव को अर्थ को थूककर धर्म की रक्षा करनी चाहिए। धर्म एक नित्य शाश्वत तत्त्व है जो मरने पर भी जीव के साथ परलोक तक जाता है। किन्तु अर्थ तो निर्जीव धातु के सिक्के या भौतिक वस्तुओं के रूप में अनित्य एवं नश्वर वस्तु है जो मनुष्य का साथ नहीं दे सकती तथा मरने पर परलोक में साथ भी नहीं जाती। इसलिए अनित्य अर्थलाभ के लिए नित्य धर्मतत्त्व को कभी नहीं त्यागना चाहिए। भगवान् वेदव्यासजी ने चेतावनी दी है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभात्
धर्मं त्यजेत्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः।।

अर्थात् कभी भी तनिक भी कामना के लिए, न भय न लोभ से, वरन् अपने जीवन तक की रक्षा के लिए भी धर्म न छोड़ें। धर्म नित्य है, सुख-दुःख तो अनित्य है। जीव नित्य है और उसका जन्म मरण का हेतु अनित्य है। इसलिए अनित्य के लिए नित्य को कभी नहीं त्यागना चाहिए। भगवान् ने गीता में भी धर्म की महिमा में कहा है—**स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।** 3/35, गीता

अर्थात् अपने धर्म में मर जाना अच्छा है। दूसरों का धर्म सदा भय देने वाला होता है। दुर्भाग्य से पश्चिम की भौतिकवादी अर्थपरायण सभ्यता की नकल से आज मानव का भीषण नैतिक पतन हो रहा है। इंग्लैण्ड के एक प्रसिद्ध अर्थशास्त्री बेनहम (Benhem) ने लिखी है एक पुस्तक Economics of prostitution अर्थात्

वेश्यावृत्ति का अर्थशास्त्र। उसने तर्क दिया है कि क्योंकि जीवन का अन्तिम लक्ष्य अर्थोपार्जन ही है और अर्थशास्त्र के पूरे अध्ययन में नीतिशास्त्र का कोई हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। इसलिए वेश्यावृत्ति शुद्ध आर्थिक दृष्टिकोण से एक माता या गृहपत्नी के कार्य से अधिक लाभप्रद है। उसने बताया कि एक माता या गृहपत्नी के कार्य का मूल्यांकन दो नौकरानियों के कार्य के बराबर करने से उसका मूल्य सौ पौण्ड मासिक तक हो सकता है। इसकी तुलना में एक वेश्या हजार दो हजार पौण्ड मासिक तक कमा सकती है। इसलिए आर्थिक दृष्टि से वह माता या गृहपत्नी से अधिक लाभप्रद धंधा करने वाली है। जिस माता को भारतीय संस्कृति में सबसे ऊंचा स्थान और पवित्रतम पद दिया गया है उसे अर्थपरायण समाज ने वेश्या के पतित जीवन से भी घटिया मानकर वेश्या के पांव के नीचे डाल दिया। अर्थ पर धर्म का अंकुश न रहने से मानवता के सभी श्रेष्ठ जीवनमूल्य नष्ट, भ्रष्ट हो जाएंगे। इसलिए भारतीय ऋषियों की भावना का प्रतिपादन करने वाली हमारी चेतावनी है—

धर्मविहीनं अर्थमनर्थम्
यज्ञ विहीनं अर्थं व्यर्थम्।

अर्थात् पाप की कमाई का पैसा अनर्थकारी होता है और समाज कल्याण रूपी यज्ञ में समर्पण किए बिना अर्थ व्यर्थ होता है। डाकू का पैसा अनर्थ है और कंजूस का पैसा व्यर्थ है। अर्थ न अनर्थ होना चाहिए और न व्यर्थ। अर्थ सार्थक तभी होता है जब धर्म के द्वारा कमाया जाए और यज्ञ की भावना से अर्थ लगे।

मानव सेवा संघ के प्रतिष्ठाता स्वर्गीय स्वामी शरणानन्दजी महाराज ने मानव सेवा संघ के 10 नियम में कहा है हमें सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक तथा विवेक से सत्य को अधिक महत्त्व देना चाहिए। धन की अपेक्षा धान्य को अधिक महत्त्व देना चाहिए। लोगों को धन का घमण्ड अधिक होता है और धान्य का कम। धन का दुरुपयोग अधिक हो सकता है धान्य का कम। धन से धोखाधड़ी अधिक हो सकती है धान्य से कम। धन केवल बैंकों या तिजोरियों में पड़ा रहता है, वस्तुओं का उत्पादन देश को समृद्धिशाली बनाता है। धन का संग्रह करने वाला कंजूस, आलसी होता है किन्तु वस्तुओं का उत्पादन करने वाला परिश्रमी होता है। अधिक उत्पादन से अधिक लोगों का कल्याण होगा। अधिक लोगों को अधिक सुविधा मिलेगी। उदाहरण के रूप में यदि सरकार के परिवहन कोष में 50 करोड़ रुपया जमा रहे और जनता को यात्रा करने के लिए बसें उपलब्ध न हो तो सरकार के जमा पैसे का क्या लाभ है? यदि सरकार के कोष में खाद्यपूर्ति विभाग में अरबों रुपया जमा रहे और जनता अन्न के अभाव में दम तोड़ती रहे तो वह जमा धनराशि बेकार है। धन वस्तुओं की सुविधा के लिए ही है। अपने आप में उसका कुछ महत्त्व नहीं। अब वस्तु से व्यक्ति का महत्त्व

अधिक है। यदि गोदाम में अनाज भरा हुआ है और बाहर व्यक्ति भूखों मर रहे हैं तो उस अन्नभण्डार का कोई लाभ नहीं। औषधि यदि अलमारी में बंद पड़ी रहे और रोगी तड़प-तड़प कर मर जाए तो औषधि निरर्थक है। सिक्का वस्तुओं के क्रय और उत्पादन के लिए ही बना है और वस्तुएं मानव के सदुपयोग के लिए ही बनी हैं। किन्तु मानव को विवेक न रहे तो वह वस्तुओं का उचित सदुपयोग भी नहीं कर सकता। मानव के सामने विष और रसायन दोनों वस्तुएं पड़ी हैं। उसे विवेक से जानना है कि उसके लिए कौन अधिक कल्याणकारी है। दूध और शराब में से किसको चुनें किसको त्यागें, यह विवेक से ही मार्गदर्शन मिलता है। यदि वस्तुओं के भण्डार को देखकर बहुत से व्यक्ति टूट पड़ें कि वस्तु तो व्यक्ति के लिए होती है तो वस्तुओं को लूटने की चेष्टा करने वाले अनेक व्यक्तियों की अपेक्षा कोई विवेकयुक्त व्यक्ति अधिक ऊंचा मार्गदर्शन कर सकता है। अनेक लोगों के एक साथ भण्डार पर टूट पड़ने से वस्तुएं भी नष्ट हो जाएंगी और व्यक्ति भी परस्पर संघर्ष में हताहत हो जाएंगे। अतः व्यक्ति से भी उसका विवेक अधिक मूल्यवान है। एक विवेकी व्यक्ति सैकड़ों अविवेकी व्यक्तियों से अधिक महत्त्वपूर्ण है। विवेक का उपयोग सत्य की खोज के लिए है। विवेक वस्तुओं को परखने के लिए ही नहीं है, वह असत्य को त्यागकर सत्य को प्राप्त करने के लिए है। विवेक की सार्थकता इसी में है कि वह सत्य की खोज कर सत्य के साथ अभिन्न हो जाए।

भारतीय संस्कृति के चार पुरुषार्थों में से अर्थ सबसे छोटा एवं प्रारम्भिक पुरुषार्थ है। कुछ विचारक काम को सबसे छोटा पुरुषार्थ मानते हैं। किन्तु अर्थ अपने आप में पूर्णतः जड़ है। पैसे में न जीवन है न ही चेतना। धान्य में कुछ प्रारम्भिक स्तर का जीवनतत्त्व मिलता है। काम बिना मानसिक चेतना के हो ही नहीं सकता। धर्म बौद्धिक एवं नैतिक चेतना पर निर्भर करता है। और मोक्ष आध्यात्मिक चेतना से ही सम्भव है। जड़ अर्थ एवं अन्य जड़ पदार्थों के निरन्तर चिन्तन एवं उपार्जन हेतु कार्यकलाप से धीरे-धीरे चेतन मनुष्य के जड़प्रायः हो जाने का भय रहता है। अतः अर्थ के व्यापार पर मानसिक, बौद्धिक एवं नैतिक नियंत्रण अनिवार्य है। मानव की भूख चार स्तर की है। वह कुछ भौतिक सम्पदा चाहता है, उसका चाहना कामना कहा जाता है। इसका उत्तर काम के आदर्श से दिया जाता है। किन्तु कामनापूर्ति के लिए अर्थ भी आवश्यक है। अतः अर्थ की भूख का उत्तर भारतीय संस्कृति के अर्थ के आदर्श से दिया जाता है।

अर्थ और काम, दोनों अन्योन्याश्रित एवं एक-दूसरे के पूरक, उत्तेजक एवं सहायक बन जाते हैं। अर्थ की इच्छा भी एक दृष्टिकोण से काम के अन्तर्गत ही आ सकती है क्योंकि अर्थ की कामना भी कामना ही है। अर्थ में कामनापूर्ति के

साधन खरीदने की शक्ति रहती है। अतः अर्थ द्वारा वर्तमान कामनाएं भी पूरी होती हैं और भावी कामनाओं को पूरा करने का सामर्थ्य भी प्राप्त हो जाता है। इसलिए कुछ विचारकों का मत है कि अर्थ काम से अधिक महत्त्वपूर्ण एवं शक्तिशाली है। उनका यह मत है कि अर्थ और काम के संघर्ष में मनुष्य को काम को दबाकर भी अर्थ को बचा लेना चाहिए क्योंकि अर्थ भावी कामनाओं को पूरा करने का साधन है। समस्त पशु-पक्षी जगत् में काम (कामना) सर्वत्र अपना खेल खेल रहा है। किन्तु अर्थव्यापार केवल मनुष्य में ही पाया जाता है। अपने व्यापक अर्थ में अर्थ, धन के साथ धान्य को भी सम्मिलित करता है। पशु-पक्षी प्रायः एक दिन का भोजन प्राप्त कर संतुष्ट हो जाते हैं। वे अन्नभण्डार या मालगोदाम नहीं बनाते। हां कुछ छोटे जीव जैसे चींटियां और मधुमक्खियां संकट के दिनों के लिए कुछ भोजन जमा कर रखती हैं। किन्तु उस भण्डार के संग्रह में भी वे मिलकर सामूहिक प्रयास करती हैं और उसका उपभोग भी सामूहिक स्तर पर करती हैं। मनुष्य के पास अर्थ भण्डार बढ़ जाने पर वह अधिक स्वार्थी बन जाता है। धन की अधिकता से उसकी कामनाएं भी और बढ़ जाती है। धन, कामाग्नि को भड़काने में ईंधन का काम करता है। इस प्रकार अर्थ काम का उत्तेजक बन जाता है। अर्थ हमारा भौतिक एवं आर्थिक आदर्श है। काम हमारा मनोवैज्ञानिक आदर्श है। धर्म हमारा नैतिक आदर्श है। और मोक्ष हमारा आध्यात्मिक आदर्श है।

भारतीय संस्कृति में अर्थ का उचित स्थान एवं महत्त्व है। किन्तु उसे अनुचित रूप से अधिक महत्त्व देने से जीवन की सारी सुन्दरता नष्ट हो जाती है। जैसे शरीर में पहनने के लिए जूता अनिवार्य है पर उसके अपने उचित स्थान पर ही रहने से मर्यादा का निर्वाह एवं अपना कल्याण हो सकता है। जूते को अनिवार्य मानकर सिर पर उठा लेने से जूता निरुपयोगी हो जाएगा और अपना तिरस्कार होगा। जब अर्थ ही सर्वोपरि हो जाता है तब प्रत्येक वस्तु और व्यक्ति अर्थ की तुलना में घटिया माना जाने लगता है। तब अर्थ के लिए ईमान बिकने लगता है, सम्मान लुटने लगता है। और पवित्र जीवनमूल्य पैसे पर नीलाम होने लगते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने कलयुग में ऐसे अर्थप्रधान युग का चित्र खींचा है—

मातु पिता बालकन्हि बोलावहिं।
उदर भरै सोइ धर्म सिखावहिं।

वे पुनः लिखते हैं—

ऊंचे-नीचे करम, धरम, अधरम करि,
पेट ही को पचत, बेचत बेटा-बेटकी।

उस काल में अर्थ प्रलोभन एवं पद प्रलोभन के वशीभूत होकर बड़े-बड़े राजपूत राजाओं ने अपना आत्मसम्मान बेचकर अपनी मां-बहनों की डोली मुगल

दरबार भेजनी प्रारम्भ कर दी थी। अर्थपरायण व्यक्ति सिद्धान्तहीन हो जाता है। वह सिद्धान्त के लिए न अर्थ समर्पित कर सकता है और न प्राण का बलिदान। इसके विपरीत वह पैसे के प्रलोभन में सिद्धान्त का भी बलिदान कर सकता है और बहुत बार प्राण भी खो बैठता है। जिस अर्थ के लिए वह प्राणों का जोखिम उठाता है वह अर्थ भी हाथ नहीं लगता और प्राणों से भी हाथ धोना पड़ता है। इसीलिए अर्थ पर धर्म का अंकुश परम अनिवार्य है। भारतीय संस्कृति कहती है अर्थ धर्म के लिए साधन है, अपने आप में साध्य नहीं। अर्थ की धन्यता इसी में है कि वह धर्म के लिए काम आ सके। अन्यथा वह मिट्टी-पत्थर के तुल्य ही है।

अर्थ की अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी हैं। जब समुद्र मंथन से लक्ष्मी का उदय हुआ तो देव और दानव सभी उसे प्राप्त करने के लिए ललचाने लगे। किन्तु भगवान् विष्णु नितान्त उदासीन भाव से कुछ भी कामना न करते हुए एकांत में एक ओर आसीन थे। लक्ष्मी ने सोचा जो मेरे प्रति उदासीन है, जो मेरे लिए तनिक भी ललचाता नहीं है वही मेरा स्वामी होने योग्य है। लक्ष्मी ने अपने को तनिक भी न चाहने वाले विष्णु भगवान् के गले में वरमाला पहना दी। महात्मा कबीर ने लिखा है—

माया छाया एक सी, विरला जाने भेद।
भक्ता के पीछे फिरे, सन्मुख भागे सोय।।

अर्थात् माया और छाया दोनों का स्वभाव एक जैसा होता है। जो व्यक्ति इनसे भागता है यह उसी के पीछे भागती है। और जो इनके सामने आ जाता है उससे वह स्वयं भागने लगती है। यदि व्यक्ति के पीछे छाया हो और वह आगे भागे तो छाया भी उसके पीछे-पीछे भागती है। इसके विपरीत यदि वह मुड़कर छाया की ओर अपना मुंह करके भागने लगे तो स्वयं छाया ही उससे आगे-आगे भागने लगती है। इसी प्रकार जो व्यक्ति माया (धन-सम्पत्ति) से मुंह मोड़कर भागता है, धन-सम्पत्ति उसके पीछे-पीछे भागती है। इसके विपरीत यदि वह माया की ओर मुख करके उसका पीछा करे तो माया ही आगे-आगे भागती जाती है और उसकी पकड़ में नहीं आती। स्वामी रामतीर्थ ने इसी भाव को अपने एक पद में गाया है—

भागती फिरती थी दुनिया, जब करते थे हम तलब।
जब हमें नफरत हुई तो बेकरार आने को है।।

धन के लिए निरन्तर बेचैन रहने वाला व्यक्ति एक भिखारी के समान भीख का कटोरा उठाए हुए सदा हाय-हाय करता रहता है और उसे धन का लोभ सदा नचाता रहता है।

गुरु नानकदेव ने लिखा है—

सकल सृष्टि का राजा दुखिया, हरि का नाम जपत होय सुखिया।

भारतीय परम्पराओं में जो व्यक्ति सारे अर्थ व्यापार को, अर्थ और आर्थिक जगत् को ठोकर मारकर संन्यासी बन जाता है उसे स्वामी कहा जाता है। यह विस्मय की बात है कि जिसने सब स्वामित्व छोड़ दिया वह स्वामी कहलाया। इसकी तुलना में जिन्होंने आर्थिक जगत् का स्वामित्व पकड़ रखा है उन्हें कोई स्वामी नहीं कहता। क्योंकि वास्तव में वे अर्थ के बंदी या धन के गुलाम ही हैं। धन की गुलामी या आजादी की कसौटी यह है कि क्या धन हमें ममता में बांध कर किसी महान् कार्य के लिए उत्सर्ग से रोकता है या हम धन को स्वेच्छानुसार किसी महत् कार्य के लिए उत्सर्ग कर सकते हैं। कबीर ने काम और अर्थ के बंधन से मुक्ति को ही सच्ची शहनशाही कहा।

चाह गयी चिन्ता गयी, मनुवा बेपरवाह।
जिनको कुछ नहीं चाहिए, वे शाहन के शाह।।

ममता की परिधि को या तो घटाते-घटाते शून्य पर ले आवें तब मुक्ति हो जाए अथवा उसे बढ़ाते-बढ़ाते विराट् तक ले जाएं तब मुक्ति हो जाए। भक्त कहता है मेरा कुछ भी नहीं। ज्ञानी कहता है सारा विश्व ब्रह्माण्ड मेरा-ही-मेरा है।

लक्ष्मी के स्वरूप का विवेचन

लक्ष्मी का एक नाम है मां। जिसका अर्थ है माता। मां के धव (स्वामी) होने के कारण विष्णु को माधव कहा जाता है। मां लक्ष्मी विश्व की माता है जो विश्व का पालन करती हैं। प्रकृति माता या लक्ष्मी माता हमारे पालन के लिए ही है, भोगने के लिए नहीं।

लक्ष्मी का लक्ष्मी नाम भी महत्त्वपूर्ण है। वह ऐसी माता है जो हमें जीवन के अन्तिम लक्ष्य नारायण तक पहुंचा देती है। जैसे माता अपने बच्चे को सजा-संवार कर पिता की गोदी में पहुंचा देती है उसी प्रकार लक्ष्मी का वास्तविक कार्य नारायण से मिलाना ही है। जिस प्रकार बच्चे के गंदा, मैला-कुचैला बने रहने पर पिता उसे गोदी में बिठाने को तैयार नहीं होता। माता द्वारा स्नानादि से पवित्र एवं वस्त्र मंडित, श्रृंगार विभूषित हो जाने पर माता जब उसे अंगुली पकड़कर पिता के पास ले जाती है तो पिता उसे स्वयं चाव से गोदी में बिठा लेते हैं। उसी प्रकार सच्ची लक्ष्मी हमें भगवान् की गोदी में बैठने योग्य बना देती है।

पुत्र को पिता का परिचय मां ही दे सकती है। यदि मां न हो तो कोई पुत्र अपने पिता को पहचान ही नहीं सकेगा। अतः सच्ची लक्ष्मी हमें जगत्पिता, परमेश्वर का परिचय देकर हमें उनके सच्चिदानन्द साम्राज्य का उत्तराधिकारी बना देती है। जिस प्रकार वनवासिन् सीता ने जंगल में पलने वाले अपने बालकों लव-कुश को राम का परिचय कराकर रामराज्य का उत्तराधिकारी बना दिया। जिस प्रकार वनवासिन्

शकुन्तला ने अपने नन्हे बालक भरत को दुष्यन्त का परिचय कराकर सारे भारत के साम्राज्य का उत्तराधिकारी बना दिया। उसी प्रकार नारायण की नित्य सहचरी लक्ष्मी माता प्रभुकृपा से वंचित और प्रभुचरणों से बिछड़े हुए जीवों को प्रभु का परिचय कराकर प्रभु के अमर साम्राज्य का सच्चा उत्तराधिकारी बना देती है। जो लक्ष्मी प्रभु से मिलाने के स्थान पर प्रभु से विलग करने वाली है वह सच्ची लक्ष्मी नहीं है। क्योंकि कोई भी सदाचारिणी एवं पतिव्रता माता अपनी संतानों को अपने ही स्वामी के विरुद्ध विपरीत या विलग करने की प्रेरणा नहीं दे सकती है।

इस दृष्टिकोण से लक्ष्मी के दो स्वरूप हैं। सुलक्ष्मी और कुलक्ष्मी। सुलक्ष्मी तो वह पवित्र मातृरूपा धन-धान्य सम्पदा है जो प्रभु से मिलाने वाली है।

लक्ष्मी के दो रूप

सुलक्ष्मी

विवेकी जीव लक्ष्मी को सदा नारायण की पोषणशक्ति और जगन्माता मानकर उससे पोषण ही मांगता है भोग को नहीं। वह लक्ष्मीपुत्र रहने में ही संतोष मानता है, लक्ष्मीपति बनने की घटिया आकांक्षा कभी नहीं रखता। लक्ष्मीपति तो सदा सर्वदा के लिए नारायण ही हैं। उसे लक्ष्मी माता के पूजन का प्रसाद भर चाहिए जिससे उसका एवं उसके परिवार का समुचित पालन पोषण होता रहे। उसकी लक्ष्मी माता या प्रकृति माता पर अधिकार करने की आकांक्षा कभी नहीं होती।

सुलक्ष्मी कमलासना, पद्मासना है। उसका आसन कमल है जो निर्लिप्तता का पावनतम प्रतीक है। जल में अंकुरित है, जल में वर्धित है, जल में पल्लवित-पुष्पित एवं क्रीडामण्डित होकर भी, जीवन के आदि से अन्त तक जल के भीतर रहकर भी कमलपत्र जल से लिपायमान नहीं होता। भगवान् के सगुण स्वरूप, भगवान् के अंगों की

कुलक्ष्मी

कुलक्ष्मी सोने-चांदी के ठीकरों के रूप में अन्याय, अनीति, अधर्म से उपार्जित पाप की कमाई है जो नारायण से अलग करने वाली है। यह माया, अविद्यारूपी विपरीत शक्ति है जो प्रारम्भ में प्रलोभन के पाँसे फेंक करके जीव की परीक्षा लेती है और जीव के प्रलोभन में फंस जाने पर उसे अर्थलोलुप, स्वार्थी, कामी, ईर्ष्यालु बनाकर और उसके विवेक पर मोह-ममता का मायावी पर्दा डालकर उसे नारायण से मिलने के योग्य भी नहीं रहने देती।

कुलक्ष्मी का वाहन है उलूक। जो दिन के प्रकाश के प्रति भी अंधा रहता है। जो सोने-चांदी के ठीकरों को ही लक्ष्मी मानकर उनका बोझा उठाए रहते हैं वे लक्ष्मी के वाहन उलूक के समान विवेक के प्रति अंधे हो जाते हैं तथा अनेक कुकर्म करने लगते हैं। कालाधन, चोरबाजारी, रिश्वतखोरी, धोखाधड़ी, तस्करी, जालसाजी आदि साधनों

उपमा के लिए सर्वश्रेष्ठ प्रतीक कोई मिलता है तो वह कमल ही है—

नव कंज लोचन कंज मुख....

गोस्वामी तुलसीदासजी राम की स्मृति में गाते हैं, जिनके नेत्र कमल के समान हैं, जिनकी दृष्टि सदा निर्लिप्त है। देखें सभी (कुछ) किन्तु फंसे कहीं नहीं। जिनका मुख कमल के समान है। वाणी निर्लिप्त और रसना लोभमुक्त है। जिनके हाथ कमल के समान हैं (जो समस्त कर्मों से अलिप्त हैं, जो देन-लेन में निष्काम और निर्लिप्त हैं)। जिनके चरण कमल के समान हैं (अर्थात् उनकी गति असंग एवं अलिप्त है। चरण जाते हैं सब स्थान पर किन्तु फंसते कहीं नहीं)। भगवान् ने गीता में भी ब्रह्मसमर्पित कर्म करने वाले को कमलपत्र के समान पापपंक से अलिप्त बताया है—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि
सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन
पद्मपत्रमिवाम्भसा।। 5/10, गीता

स्वामी रामतीर्थ ने इसी भाव को गाया है—

आदमी को चाहिए
दुनिया में रहना किस तरह
जिस तरह तालाब के
पानी में रहता है कमल

पंक में उत्पन्न होकर पंक से नितान्त अलिप्त रहने वाला पंकज प्रकृति का सर्वश्रेष्ठ वरदान एवं से धन-संग्रह करने वाले इसलिए तिरस्करणीय हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने चेतावनी दी है—

शंकर कोप सो, पाप को दाम।
परीक्षित जाह है जारी को दिया।।

अर्थात् भगवान् शंकर के कोप से पाप का पैसा निश्चय ही कलेजा जलाकर जाता है। यह परीक्षित सिद्धान्त है।

भारतीय संस्कृति का सबसे सुन्दर एवं अर्थगम्भीर प्रतीक है। धन लक्ष्मी का पद्मा या कमला रूप यह संदेश देता है कि अपार धन-सम्पत्ति के होने पर भी हमें सर्वदा निर्लिप्त एवं निष्काम रहना चाहिए। जो इस प्रकार धन होने पर भी धनमद एवं ममता से मुक्त रहता है वही सच्चा लक्ष्मी का उपासक है।

(ख) सुलक्ष्मी भी धर्म से आती है और संयमपूर्वक सदुपयोग की जाती है। सुलक्ष्मी में धर्म के बीज के कारण थोड़ी मात्रा में होने पर भी बहुत बड़ा मंगल करती है।

वनवासी राम के पास धन का नितान्त अभाव था किन्तु धर्म उनके पक्ष में था। चारित्रिक लक्षण उनके पास थे। वनवासी पांडवों के पास लौकिक दृष्टि से धन-सम्पत्ति नहीं थी। किन्तु धर्म, नीति, मर्यादा और चरित्र लक्ष्मी अवश्य थी।

(ग) सुलक्ष्मी आन्तरिक गुणों की लक्ष्मी अधिक है और बाह्य सुख-साधनों की लक्ष्मी कम है। इसी को भगवान् ने गीता में दैवी सम्पद् अर्थात् देवताओं की सम्पत्ति, दैवी गुणों की सम्पत्ति कहा है—

अभयं
सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप
आर्जवम्।। 16/1, गीता

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः
शान्तिरपैशुनम्।

(ख) कुलक्ष्मी अधर्म एवं अन्याय से उपार्जित होती है, अनर्थ में जाती है या व्यर्थ में नष्ट हो जाती है।

कुलक्ष्मी बहुत बड़ी मात्रा में होने पर भी कल्याण के स्थान पर नाश का हेतु बनती है।

रावण के पास सोने की लंका तो थी किन्तु धर्म चरित्र नहीं था।

कौरवों के पास सारे भारत की राज्यलक्ष्मी थी किन्तु चारित्रिक लक्ष्मी नहीं थी।

(ग) कुलक्ष्मी आसुरी सम्पदा है। बाहर के सुख साधन प्राप्त करके भी मनुष्य भीतर से कंगाल ही रहता है। इसके लक्षण इस प्रकार हैं—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः
पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ
सम्पदमासुरीम्।। 16/4, गीता

कुलक्ष्मी रूपी आसुरी सम्पदा निम्नलिखित दुर्गुणों के रूप में प्रकट होती है—पाखण्ड, घमण्ड और अभिमान तथा क्रोध, कठोर वाणी एवं

दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।। 16/2, गीता

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत।। 16/3, गीता

अभय, भावसंशुद्धि, ज्ञानयोग व्यवस्थितः (ज्ञान योग में निरन्तर स्थिति), दान, इन्द्रियदमन, तप, स्वाध्याय, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, निंदा का अभाव, भूतदया, लालच का अभाव, कोमलता, लोकलज्जा, चपलता का अभाव, तेज, क्षमा, धीरज, पवित्रता, अद्रोह, निरभिमानिता—ये सब दैवी सम्पद् के लक्षण हैं। ये लक्ष्मी चारित्र्य लक्ष्मी है। ये नारायण से मिलाने वाली है। इसे ही भगवान् शंकराचार्य मोक्षसाम्राज्य लक्ष्मी कहते हैं। यह भगवान् की परा प्रकृति के समान भगवान् की ज्योति को प्रकट करने वाली है। इसे भगवान् ने 'दैवीसम्पद् विमोक्षाय' कहा है। अर्थात् दैवी सम्पदा मोक्ष देने वाली है। प्रभु की प्रपत्ति से जो यह दैवी सम्पत्ति मिल जाती है उसके बाद कभी भी विपत्ति का मुख नहीं देखना पड़ता या विपत्ति को अवसर नहीं मिलता।

अज्ञान। भगवान् आसुरी सम्पदा का परिणाम बताते हैं बंधन।

'निबन्धायासुरी मता'

अर्थात् आसुरी सम्पदा बंधन का कारण होती है। कुलक्ष्मी अपरा प्रकृति के समान मायारूपिणी, अविद्यारूपिणी, बंधनकारिणी होती है।

आज के भौतिकवादी अर्थ सर्वस्व समाज में आसुरी सम्पदा का ही बोलबाला है। जिस पश्चिम का अंधानुकरण करने का प्रयास आज का भारतीय नवयुवक कर रहा है उस पश्चिम में अति अर्थपरायणता के कारण परिवार नाम की संस्था तो प्रायः उजड़ ही चुकी है। परिवार में परस्पर स्नेह, सहयोग, त्याग, तितिक्षा का भाव लुप्त होता जा रहा है और उसके स्थान पर स्वार्थ, ईर्ष्या, स्पर्धा, संघर्ष, अवसरवादिता का दाव-पेंच चल रहा है। एक भारतीय धर्मपत्नी को अपने पति के चरणों में वंदना करते देख हमारे एक अमेरीका से समागत मित्र ने कहा, 'India is wonderful where the hands of wives are at the feet of their husbands' मेरी जिज्ञासा पर उसने कहा, 'In the west, the hands of wives are in the pockets of their husbands.' पश्चिम में स्त्रियां धन की शिकारी बनी हैं और पुरुष रूप के शिकारी। पति के स्नानालय या इधर-उधर जाते ही पत्नी पति की जेब में हाथ फेर लेती है। अधिक धनवान पुरुष मिलने पर पति को तलाक देकर

(घ) भगवान् ने गीता में दैवी सम्पदा में जितने गुण बताए हैं उनमें सबसे प्रथम अभयम् (निर्भयता) और अन्तिम निरभिमानिता बताया है। निर्भय होने से भयमुक्त हो गया और अभिमान रहित होने से मोहमुक्त हो गया। मोहमुक्ति से शोकमुक्त भी हो गया। अतः भय और शोक से मुक्ति ही दैवी सम्पदा का अथ और इति है। सद्गुणों की भक्ति का अगुआ अभय है। किन्तु अभय होने से कई लोग अभिमानी होकर दुस्साहसी कर्म करने लगते हैं, जैसे डाकू मानसिंह या डिक्टेटर हिटलर। इसलिए दैवी सम्पदा में निरभिमानिता (विनम्रता, शालीनता), अहंकारशून्यता भी परमावश्यक है। अभय होने से किसी से डरेगा नहीं और निरभिमान होने से किसी को डराएगा या सताएगा नहीं।

नया पति चुन लेती है। इसी प्रकार पुरुष अधिक रूपवती स्त्री मिलने पर पिछली पत्नी को तलाक दे देते हैं।

(घ) आसुरी सम्पद् में भगवान् ने छह दुर्गुण गिनाये हैं। उनमें मुख्य रूप से अहंकार और अज्ञान ही हैं। इन्हीं के रूपान्तर छः दुर्गुणों के रूप में गिनाये जा सकते हैं। वास्तव में अज्ञान ही मोह है और मोह का एक माध्यम अहंकार है। इसलिए कहा जा सकता है कि सब दुर्गुणों का मूल कारण अज्ञान (मोह) ही है।

दम्भ, दर्प तथा अभिमान में थोड़ा-थोड़ा भेद है।

(i) **दम्भ**—झूठा आडम्बर या पाखण्ड है। लोगों को ठगने के लिए अनधिकृत रूप से कुछ बनने की चेष्टा दम्भ है। जैसे बहुरुपिया मनोविनोद के लिए कोई स्वांग रचता है, उसी प्रकार यदि लोगों को ठगने या धमकाने के लिए दूषित भावना से स्वांग रचा जाए तो वह दम्भ है। रावण का सीताहरण हेतु साधुवेश में आना पाखण्ड है।

(ii) **दर्प**—इसका अर्थ है फूला हुआ अहं। कोई अपने आपको बहुत सुन्दर मानकर आवश्यकता से अधिक गर्व करने लगता है। किसी को धन का मद, किसी को पद का मद, किसी को विद्वत्ता का मद, किसी को बल का मद हो जाता है। और वह उसी मद में खूब फूल जाता है। इसे ही दर्प कहते हैं। रावण को अपनी शक्ति का दर्प था। दुर्योधन-दुःशासन एवं कर्ण

भी दर्प से दग्ध थे। दर्पण को इसलिए दर्पण कहा जाता है क्योंकि वह देखने वाले के सौन्दर्यरूपी दर्प को बढ़ाता है। सेना को देखकर सेनापति का दर्प बढ़ जाता है।

(iii) **अभिमान**—वैसे तो दम्भ, दर्प और अभिमान तीनों ही अहंकार के रूप हैं। किन्तु दम्भ, दुष्टभावना से रचा हुआ बनावटी अहंभाव है। दर्प प्रशंसा या आत्मश्लाघा से फूला हुआ अहंकार है और मूल अविद्या के कारण अपने वास्तविक मैं को भूलकर शरीर, मन, इन्द्रिय आदि को ही मैं मान लेना अभिमान है।

अभिमान = शरीर आदि को मैं मानना = सामान्य लोगों का अज्ञान।

दर्प= पद के मद में फूला हुआ अहं = कुछ धन या पद प्राप्त होने पर उसका अहंकार।

दम्भ—दुष्ट भावना से बनाया हुआ कृत्रिम रूप = चालबाज लोगों का ढकोसला, ठगों का मार्ग।

क्रोध और पारुष्य (कठोर वाणी) दोनों परस्पर सम्बन्धित हैं और एक-दूसरे को उत्तेजना देने वाले हैं। क्रोध काम में बाधा से होता है और काम अज्ञानमूलक ही होता है।

दम्भी-दर्पी, अभिमानी, क्रोध में कठोर वाणी बोलते हैं। क्रोध का कारण क्या है?—किसी कामना में बाधा आना। कामना पैदा क्यों हुई?—क्योंकि अविद्या या अज्ञान था।

(ङ) हम प्रतिदिन प्रात: स्मरण में कहते हैं—'कराग्रे वसति लक्ष्मी।'

अर्थात् पुरुषार्थ से ही लक्ष्मी मिलती है। प्रतिदिन प्रात:काल हाथ में लक्ष्मी के दर्शन करने का भाव यह है कि मैं इन हाथों से पुरुषार्थ करके पवित्र लक्ष्मी का उपार्जन करूंगा। इन हाथों से मैं न किसी की जेब काटूंगा, न गला काटूंगा, न कम तोलूंगा, न झूठे दस्तखत करूंगा, न लेखे में गोलमाल करूंगा, न छलकपट से या चालाकी से झूठे मुकदमे या झूठे अधिकारपत्र द्वारा किसी की सम्पत्ति को हथियाऊंगा। चोरबाजारी या पाप के धन को स्पर्श नहीं करूंगा। देन और लेन में ईश्वर को साक्षी मानूंगा। तब मेरे हाथ में सच्ची लक्ष्मी के दर्शन होंगे।

(ङ) कुलक्ष्मी को चंचला कहा गया है। वह टिकती नहीं। कबीर के शब्दों में, 'माया महाठगिनि हम जानी'। वे पुन: लिखते हैं—

—'रमया के दुलहिन लूट्यो बजार।'

—अर्थात् नारायण की सहचरी लक्ष्मी चंचला बनकर संसाररूपी बाजार को लूट रही है। शास्त्र में कहा है कि लक्ष्मी वहां से भाग जाती है जहां कलह हो, जहां शील का अभाव हो, जहां व्यसन हो, जहां जुआ हो, जहां झूठ या छलकपट हो, जहां अपवित्रता हो। जहां असंयम हो तथा जहां धन अनर्थ या व्यर्थ हो।

लक्ष्मी एवं सरस्वती का विवाद

लक्ष्मी एवं सरस्वती का विवाद—प्राय: यह मान्यता रूढ हो गई है कि लक्ष्मी एवं सरस्वती दोनों एक साथ नहीं रह पाती। बड़े-बड़े सेठ, साहूकार प्राय: विद्या, कला आदि के वरदानों से वंचित रहते हैं। दूसरी ओर बड़े-बड़े विद्वान् कलाकार, मनीषी आदि प्राय: निर्धनता में पलते रहते हैं। तुलसीदास, कबीर, रविदास, रामतीर्थ, प्रेमचंद, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, तिलक, मालवीय आदि की अतिशय निर्धनता तथा दूसरी ओर निजाम (हैदराबाद), जयपुर नरेश, बिड़ला, डालमिया, बागड़ आदि की अथाह धन-सम्पत्ति मानव को विस्मय में डालने वाली है। सरस्वती पुत्रों से लक्ष्मी क्यों रुष्ट रहती है। यह एक पहेली बनी हुई है। संस्कृत के एक कवि भारवि अपनी काव्यरचना में मगन रहते और घर में भोजन पकाने हेतु एक अन्न का दाना नहीं होता था। भोजन मांगने पर उनकी पत्नी ने कहा—क्या मैं आपकी कविता को ही चूल्हे पर पकाकर खिलाऊं? बेचारा कवि कविता बेचने गया किन्तु कोई ग्राहक न मिला। अन्त में एक व्यापारी के पास अपनी कविता को गिरवी रखकर दस मुहर उधार मांगकर लाया। व्यापारी ने कविता का पुलिंदा एक ओर ताक पर रख दिया। अरसे तक पड़ा रहने से उसका एक भाग नीचे लटक आया था। व्यापारी व्यापार हेतु 16-17 वर्ष के लिए विदेश

चला गया। जब लौटकर आया तो अपनी पत्नी के साथ उसकी शय्या पर एक नौजवान को लेटा देखकर उसे बहुत क्रोध आया। उसने तलवार खींचकर दोनों को काटने का विचार किया तभी दीवार से लटकी हुई कविता की पंक्ति पर उसकी दृष्टि पड़ी। जिस का भाव था उतावला सो बावला। उसने तलवार को वापस म्यान में रखा और सोचा कि पहले पत्नी से उत्तर मांग लूं कि वह ऐसा आचरण क्यों कर रही है। अचानक तलवार के म्यान में डालने की आहट को सुनकर पत्नी की नींद खुल गई। उसने पति के चरणों में प्रणाम करते हुए नौजवान को जगाया और कहा—बेटा! उठ, तेरे पिताजी आए हैं। उसने पति को समझाया कि यह वही उनका प्यारा बेटा है जिसको एक वर्ष की अवस्था में छोड़कर विदेश गए थे। कल रात्रि को तेज बुखार होने के कारण उसकी सेवा हेतु माता ने उसे अपने निकट सुला लिया था। पुत्र ने जागकर पिता को प्रणाम किया तब पिता ने उसे हृदय से लगा लिया। व्यापारी को अपने पहले के संकल्प पर बहुत पछतावा हुआ। यदि वह दोनों को काट देता तो आज उसका सारा परिवार सर्वनाश को प्राप्त हो जाता। बाद में कवि भारवि जब 10 मुद्रा लेकर व्यापारी के पास उधार लौटाने के लिए गया तो व्यापारी ने कहा—10 मुद्रायें लौटाने के बजाय मुझसे 10 हजार मुद्राएं और ले जाओ। तुम्हारी कविता ने पूरे परिवार की प्राणरक्षा की है।

यह सच है कि सरस्वती के उपासक को प्रारम्भ में अनेक-अनेक आर्थिक कष्ट झेलने पड़ते हैं। किन्तु अन्त में लक्ष्मी भी उस पर प्रसन्न होती है तथा कल का निर्धन कंगाल कवि एक दिन राजकवि के सिंहासन पर बैठकर राजा का प्रेमपात्र बन जाता है।

सरस्वती के उपासक एक कवि ने सरस्वती को लक्ष्मी से कहीं श्रेष्ठ बताते हुए कहा है—

हे लक्ष्मी! तू थोड़ी देर के लिए मन को प्रलुब्ध कर नचाने वाली है और मरने पर साथ भी नहीं देती, यहीं की यहीं धरी रह जाती है। तू तो ठगने वाली वारांगणा के समान है जो प्रलुब्धकर सब कुछ छीन लेती है। सरस्वती ही मेरी सच्ची माता है जो विद्या का प्रकाश देती है। इहलोक में भी साथ देती है तथा परलोक में भी यह विद्यारूपी देवी साथ चलती है। धन-सम्पत्ति को तो कालरूपी डाकू यहीं छीन लेता है किन्तु विद्या को काल छीन नहीं सकता। यह जन्म-जन्मान्तर तक साथ देने वाली सच्ची माता, भगवती सरस्वती है।

इस तुलना में वास्तव में सरस्वती और कुलक्ष्मी की तुलना है। मरने पर धन-सम्पत्ति (मुद्रा, पैसा, धरती, खेती आदि) साथ नहीं जाती किन्तु सच्ची लक्ष्मी दैवी सम्पदा अवश्य साथ जाती है। अत: सरस्वती और सुलक्ष्मी में कोई विरोध नहीं है। सच्ची लक्ष्मी जैसे नारायण से मिलाने वाली है उसी प्रकार सच्ची सरस्वती,

गायत्री, सावित्री, दुर्गा, काली आदि भी परमेश्वर से मिलाने वाली ही हैं। वैसे ब्रह्म 'एकमेवद्वितीयम्' ही है और ब्रह्मा, विष्णु, महेश उसी एक ही ब्रह्मसृष्टि के तीन रूप हैं। उसी प्रकार उमा, रमा, ब्रह्माणी यह तीनों भी एक ही प्रकृति माता के स्वरूप हैं जिनमें तत्त्वतः कोई अन्तर या विरोध नहीं है।

मुद्रा लक्ष्मी केवल बाह्य भौतिक सम्पदा है। किन्तु चारित्रिक लक्ष्मी, पावित्री लक्ष्मी, दैवी सम्पदा, रामरत्न धन, पुण्य लक्ष्मी, ज्ञान लक्ष्मी, मोक्ष साम्राज्य लक्ष्मी सब भीतर की दिव्य सम्पदा होने के कारण सरस्वती का वर ही वरदान बन जाता है। अतः लक्ष्मी और सरस्वती में तत्त्वतः अन्तर बचता ही नहीं।

काम

भारतीय संस्कृति का एक अन्य महत्त्वपूर्ण पुरुषार्थ काम है। काम का आदर्श है जीवन में सांसारिक सुख कामनाओं की प्राप्ति एवं समुत्कर्ष। प्रत्येक मानव के मन में कुछ कामनाएं होती हैं। कुछ शारीरिक कामनाएं, कुछ इन्द्रियों की भूख, कुछ मानसिक कामनाएं होती हैं। कुछ लोभ तथा ईर्ष्या या स्पर्धा के कारण बड़ी ही कृत्रिम कामनाएं जिनका शरीर निर्वाह के लिए विशेष महत्त्व नहीं होता।

काम को भगवान् ने गीता में ज्ञान का सबसे बड़ा शत्रु बताया है। किन्तु भारतीय संस्कृति में काम का आदर्श मात्र कामनापूर्ति का उद्देश्य नहीं है। यह तो कामना को ऐसे समुचित ढंग से पूर्ति करने के विधि है जिससे काम भी तृप्त हो जाए और हम कामरूपी महान् राक्षस के चंगुल से भी बच जाएं। गुरु शिष्य से पूछता है कि कामना की तृप्ति क्यों चाहते हो। शिष्य कहता है कामनातृप्ति से सुख मिलता है। यदि भूख लगी हो, खाना मिल जाए तो तृप्ति का सुख मिलता है। प्यास में पानी मिलने पर, शीत में कम्बल मिलने पर, वर्षा में सिर ढकने का स्थान मिलने पर सुख होता है। गुरु पूछता है क्या यह सुख तुम्हें थोड़े समय के लिए चाहिए या लम्बे समय के लिए चाहिए। शिष्य उत्तर देता है कि लम्बे समय के लिए चाहिए। गुरु पूछता है सुख अधिक चाहिए या कम चाहिए। शिष्य अधिक सुख की मांग करता है। तब गुरु पूछता है क्या थोड़े समय के लिए अधिक सुख चाहिए या अधिक लम्बे समय के लिए सीमित सुख चाहिए। शिष्य के समझ न आने पर गुरु समझाता है क्या एक दिन के लिए हलवा-पूरी, पकवान लेना पसन्द करेंगे और शेष महीना भर भूखे या महीना भर सादा भोजन। शिष्य कहता है, गुरुजी! एक दिन के लिए हलवा-पूरी, पकवान खाने के पश्चात् जब शेष दिन भूखा मरना पड़ेगा तो हलवा-पूरी, पकवान का सब सुख भयंकर दुःख में बदल जाएगा और बिना भोजन के मौत के मुंह में जाना पड़ेगा। इसलिए क्षणिक तीव्र सुख के लिए जीवन भर के दुःख का बुलावा देना मूर्खता है। गुरु पुनः पूछता है—क्या तुम यह पसन्द करोगे कि कुछ दिन का भोग जीवनभर का

रोग बन जाए। तो शिष्य कहता है—नहीं, ये तो आत्महत्या के तुल्य होगा। हमें तो जीवन के अधिक से अधिक लम्बे काल के लिए कुल मिलाकर अधिक सुख चाहिए। तब गुरु समझाता है कि जीवन में अधिक लम्बे आयुष्य के लिए अधिक अच्छे स्वास्थ्य के लिए अधिक से अधिक लम्बे काल के लिए अधिक से अधिक मात्रा में सुख प्राप्त करने के लिए कामनापूर्ति में संयम का पालन करना अनिवार्य है। यदि मनुष्य विवाह को कामनापूर्ति का लाइसेंस मानकर संयमरहित भोगविलास में डूब जाए तो कुछ काल पश्चात् भोग रोग में बदल जाएगा और व्यक्ति भविष्य के लिए सुखोपभोग के लिए सर्वथा अयोग्य हो जाएगा।

रावलपिंडी में एक सरदार साहब थे जो बहुत बड़ी सम्पत्ति के स्वामी थे। उनका रहन-सहन राजाओं के समान था। उनके घर में नौकर भी नित्य हलवा-पूरी, पकवान खाते थे, कुत्तों तक को भी पकवान मिलते थे। किन्तु परिवार के मुखिया सरदार साहब को डॉक्टरों ने कह रखा था कि यदि वे जौ के पानी के अतिरिक्त कुछ भी सेवन करेंगे तो उनके बचने की आशा नहीं। जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में, जवानी के असंयमित भोग के कारण मनुष्य रोगों का शिकार होकर भावी भोगों के लिए सर्वथा अयोग्य हो जाता है—

धर्मविहीनं कामं भोगम्।
संयमहीनं कामं रोगम्।।

यदि मनुष्य में सुखोपभोग की कोई कामना है जैसे खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने, रहने, परिवार बनाने, संतान प्राप्त करने, सुख साधनों से जीवन को आरामदेह बनाने, वाहन, साज-सज्जा, वेश-भूषा किसी प्रकार की भी कोई सुख कामना हो तो उसे पूरा करने में कोई आपत्ति नहीं है यदि वह धर्म पर चलते हुए और संयम का पालन करते हुए हो। भगवान ने गीता में स्वयं कहा है—

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ। 7/11, गीता

'हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन! जो धर्म के विरुद्ध नहीं है वह काम मैं ही हूं।' वे पुनः कहते हैं—

प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः 10/28, गीता

अर्थात् 'प्रजनन करने वालों में मैं कामदेव हूं।' इस दृष्टि से धर्मपूर्वक कामनापूर्ति स्वयं एक ईश्वरीय कर्म ही नहीं स्वयं ईश्वर का रूप ही बन जाता है। काम जैसे मानव के सबसे बड़े शत्रु को धर्म की मर्यादा में बांधकर गृहस्थ धर्म बना देना, काम को धर्म के आशीर्वाद से राम बना देना भारतीय संस्कृति का अद्भुत चमत्कार है। एक पवित्र माता या सती साध्वी और घृणित वेश्या दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है। काम के सेवन बिना कोई माता माता नहीं बन

सकती। किन्तु उसके धर्म और संयम ने उसे पूज्यतम सिंहासन पर बैठा दिया। इसकी तुलना में धर्मविहीन, अमर्यादित एवं संयमहीन काम ने वेश्या को सबसे पतित स्तर तक गिरा दिया। माता या गृह-पत्नी के जीवन में काम गृहस्थ धर्म के पालन के लिए होता है। किन्तु वेश्या के जीवन में काम अमर्यादित भोग विलास के लिए होता है। भारतीय संस्कृति का कथन है कि आपकी जो भी कामना हो उसे धर्म पर चलते हुए पूरा करो और कामनापूर्ति के सुख को संयम के साथ भोगो।

घर चाहिए, तो धर्म पर चलते हुए घर प्राप्त करो। किसी का घर न लूटो, न उजाड़ो। यदि पत्नी चाहिए तो धर्म पर चलते हुए मर्यादानुसार पत्नी, परिवार प्राप्त करो। किसी अन्य की पत्नी को न चुराओ, न भगाओ, न भोगो। न ही मन में ऐसा पाप संकल्प उठने दो। कोठी बंगला कार टी.वी. रेडियो जो भी चाहिए, धर्म पर चलते हुए प्राप्त करो।

काम जैसे घटिया क्षुद्र सिक्के को धर्म अपनी मुहर लगाकर सोना बना देता है। कामभोग एक पाप है। किन्तु गृहस्थ-जीवन एक धर्म है। धर्म भारतीय जीवन के ताने-बाने का केन्द्रीय तन्तु है। यह ऐसा स्वर्णिम सूत्र है जो चारों पुरुषार्थों को अपने में पिरोये हुए मानव को मोक्ष की ओर ले जाता है। यह ऐसी पारसमणि है जो घटिया भाव के लोहे को छूते ही खरा सोना बना देती है।

काम के विषय में निम्नलिखित बिन्दु विचारणीय हैं—

(1) कामना का मूल उद्‌गम

(2) कामना का मनोवैज्ञानिक स्वरूप

(3) कामना का परिवार विस्तार

(4) कामना का मनोविश्लेषण

(5) नरक की सात सीढ़ियां

(6) कामना से बंधन

(7) कामवासना

(8) कामदेव

(9) आधुनिक पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों का कामप्रवृत्ति के विषय में दृष्टिकोण—फ्रॉयड आदि

(10) कामुकता एवं नग्नताप्रधान पाश्चात्य सभ्यता

(11) सौन्दर्य श्रृंगार और काम

(12) भारतीय संस्कृति में नारी का स्थान—नारी भोग्या नहीं पूज्या

(13) कामप्रवृत्ति का धर्म द्वारा परिष्कार

14) ब्रह्मचर्य एवं संयम द्वारा काम का परिष्कार

(15) योग एवं वेदान्त द्वारा कामजय

(16) कामजय से मोहमुक्ति और मोहमुक्ति से जीवन्मुक्ति (स्थितप्रज्ञ, ब्राह्मीस्थिति)

काम का मूल उद्गम

कामना का अर्थ है—तृष्णा, इच्छा, आकांक्षा, भूख, मांग, Want, Hunger, desire, craving.

प्रश्न है कि जीव में किसी प्रकार की कामना पैदा होती ही क्यों है? अंग्रेजी में Want शब्द के दो अर्थ हैं एक कामना दूसरा अभाव। जब हम कहते हैं कि A thirsty man wants water तब Want कामना के अर्थ में प्रयोग हो रहा है। जब हम कहते हैं Five thirsty men died in desert for want of water तब अर्थ यह है कि मरुस्थल में पांच व्यक्ति पानी के अभाव में मर गए, यहां Want का अर्थ अभाव है। वास्तव में प्रत्येक कामना अभाव से ही पैदा होती है। यह अभाव वास्तविक हो या कल्पित, यही कामना को पैदा करता है।

निर्धन व्यक्ति पैसे के वास्तविक अभाव से पैसे की कामना करता है और धनी व्यक्ति कल्पित अभाव से, अन्य धनियों की अपेक्षा अपने पास कम धन है इस भावना से लोभ से प्रेरित होकर धन की कामना करता है।

अभाव अपने सच्चे स्वभाव को भुला देने से ही पैदा होता है। मैं तत्त्वतः कौन हूं, किस का अंश हूं, मेरे स्वरूप में कौन-सी निधि गुम्फित है। वास्तव में राजा है या भिखारी, इसका विस्मरण हो जाने के कारण ही मनुष्य अपने भीतर अभाव अनुभव करने लगता है। मानव स्वयं वह नित्य चैतन्य तत्त्व है जो अपने आप में पूर्णकाम, आप्तकाम, निष्काम, नित्यतृप्त और नित्यानन्दस्वरूप है जिसमें किसी प्रकार का अभाव नहीं और जिसे कोई कामना नहीं। इसी स्वरूप को भूलकर अपने आपको शरीर, मन, इन्द्रिय आदि मान लेने पर अनेक अभावों की प्रतीति होने लगती है। तब शरीर की भूख, इन्द्रिय की भूख, मन की भूख को पूरा करने के लिए मनुष्य अनेक कामनाएं करता है। मानो चक्रवर्ती सम्राट् कामनारूपी भीख का कटोरा लेकर नश्वरता के बाजार में भौतिकता की भीख मांगने लगता है।

अविद्या से अभाव की प्रतीति, अभाव से कामना, कामना से कर्म, कर्म से कर्मफल और कर्मफल के परिपाक हेतु देश-काल का बंधन, काल का पाश। यही संसारचक्र है।

कामना का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

कामना मनुष्य को भिखारी बना देती है। यह मनुष्य को अपने अन्तर की शान्ति एवं समृद्धि से वंचित कर बहिर्मुखी बनाकर बाहर का नाच नचाने लगती है। वास्तव में शान्ति और शक्ति तो जीव के भीतर है। किन्तु वह बहिर्मुखी होकर बाहर की वस्तुओं में सुख-शान्ति मानकर उन्हीं के पीछे अंधा-पागल बनकर दौड़ने लगता है। कुछ लोग समझते हैं कि कामना में बड़ी शक्ति है जो मनुष्य को तेज दौड़ने, जोखिम के काम करने तथा वस्तुओं की प्राप्ति हेतु परिश्रम करने में समर्थ बनाती है। वास्तव में यह शक्ति कामना में नहीं वरन् स्वयं हमारे भीतर है। जब हम कामना करते हैं तब हमारे भीतर की शक्ति कामना के माध्यम से व्यय होने लगती है। कामना न शक्ति पैदा करती है न शक्ति को बढ़ाती है। वरन् शक्ति को घटाती ही है। जिस प्रकार ऊंट कंटीली झाड़ियों को चबाता है और उसका अपना मुख जख्मी होकर रक्त निकलने लगता है और भ्रमवश वह उसे ही कांटे का रस मानकर चबाता रहता है। उसी प्रकार कामना के वशीभूत होकर जीव संसार की भौतिक वस्तु की ओर आकर्षित होता है। वे अपने भीतर का कुछ रस उस वस्तु पर आरोपित कर उसे अपने लिए रसीला मान लेते हैं और फिर उसी के रस के बंदी हो जाते हैं। यदि वस्तु में रस होता तो सदा सभी को सभी परिस्थिति में समान रूप से रस मिलता। किन्तु ऐसा नहीं होता। भिन्न-भिन्न लोगों को भिन्न-भिन्न देशों में, भिन्न-भिन्न कालों में, भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में एक ही वस्तु में समान रूप से रस नहीं प्राप्त होता। चित्त की प्रसन्नता में क्षुधा होने पर रसगुल्ले में रुचि होने पर जो स्वाद मिलता है वह शोक की अवस्था में, रोग की अवस्था में, व्रत-उपवास की अवस्था में, यात्रा की जल्दबाजी की अवस्था में, निद्रा की अवस्था में, बेहोशी की अवस्था में, अरुचि की, तिरस्कार की अवस्था में वही रस क्यों नहीं मिलता? रस वस्तुओं में नहीं है। कामना में भी नहीं है। रस तो व्यक्ति के अपने भीतर है। अपने ही रस के कुछ छींटे बाहर की वस्तुओं पर डालकर उन्हें रसीला मान लेते हैं। कोई कुरूप व्यक्ति पर अपना रस उड़ेलकर उसे ही सबसे प्यारा मानने लगता है। कोई कुत्ते से, पक्षी से प्रेम करने लगता है। कोई मदिरा को, अफीम को या अन्य विषैली मादक वस्तुओं को अमृत से ऊंचा मान बैठता है। कोई मुर्गी के गर्भ को (रज-वीर्य मिश्रित अण्डे को), कोई पशु के रक्त को, मांस को स्वादिष्ट मान लेता है। वास्तव में उन वस्तुओं में स्वाद होता तो सबको समान रूप से मिलता। जिस मदिरा के लिए शराबी बेचैन होकर कपड़े फड़वाकर पैसे लुटवाकर पुलिस के डण्डे खाकर घर को उजाड़कर भी रस मानता रहता है, उस मदिरा का पूरा भण्डार बिना पैसे का मिलने पर भी कोई चरित्रवान व्यक्ति उसे ठोकर मारकर नाली में फेंक देता है। Socraties dissatisfied is better than

a pig satisfied. अर्थात् एक पेट भरे शूकर की अपेक्षा एक भूखा सुकरात श्रेष्ठ है। काम अभाव से पैदा होता है तथा पश्चात्ताप में समाप्त होता है। काम मनुष्य को व्यर्थ में जीवनभर नचाकर, उसे खूब दौड़ाकर, उसे थकाकर, उसकी समस्त इन्द्रियों का तेज हरणकर, उसकी मन की शक्ति को लूटकर और उसकी बुद्धि को व्यामोहितकर उसके आत्मस्वरूप को छिपाकर अन्त में उसे अपनी व्यर्थता प्रकट कर अपनी असारता-निःसारता दिखाकर पश्चात्ताप से भर देता है—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते।। 1/26, कठ. उ.

कल तक भोग कहां ठहरेंगे जीर्ण करेंगे इन्द्रिय प्राण।
जीवन अल्प छीन लोगे तुम छीनो नृत्य गीत वाहन।

भर्तृहरि ने लिखा है—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः
तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न याता वयमेव याताः
तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः।

हमने न भोगे भोग, भोगों न हमें भुक्ता दिया
हमने न तापे ताप तापों ने हमें तपा दिया।
काल कुछ गुजरा नहीं उलटे हमें गुजरा दिया
जीर्ण तृष्णायें हुई न हो गये हम जीर्ण।

जिस प्रकार मनुष्य आम के फल को बार-बार उसका रस चूसकर उसका रस शोषणकर अन्त में रसहीन गुठली और छिलके को कूड़े के ढेर में फेंक देता है, उसी प्रकार भोग जीवन भर मनुष्य के जीवनरस का शोषणकर उसके वृद्ध, रोगी और बेकार हो जाने पर उसके सूखे कंकाल को मृत्यु के ढेर पर फेंक देते हैं। मनुष्य भूल से यह समझता रहता है कि मैं भोगों को भोग रहा हूं। किन्तु वास्तव में भोग ही उसको भोगते-भोगते बेकार बनाकर बाहर फेंक देते हैं।

कामना का परिवार विस्तार

काम ही सब मानसिक विकारों का आदिकारण है। काम में बाधा पड़ने से क्रोध पैदा हो जाता है जो काम से भी अधिक भयंकर सिद्ध होता है। क्रोध के लक्षण निम्नलिखित हैं—मुट्ठियां कसना, दांत पीसना, आंखें लाल होना, शरीर में ऐंठन आ जाना, वाणी का ऊंचा हो जाना, सांस का गरम हो जाना, नाड़ी का तेज चलना, हृदयगति का बढ़ जाना, नथुने फूल जाना, ओंठ फड़फड़ाना, मुख से अपशब्द निकलना अथवा रुष्ट होकर ऊपर से वाणी द्वारा कुछ न बोलना किन्तु मन

ही मन दुर्भावना की वाणी बोलना, क्रोध दिलाने वाले कारण पर खीजना अथवा क्रोध के कारण व्यक्ति को दण्ड देने की चेष्टा करना। क्रोध मन की एक ऐसी विकृति है जो काम से भी अधिक भयानक हो जाती है। क्रोधरूपी मानसिक आवेग की मूलप्रवृत्ति है वैर या कलह (Pugnacity)। क्रोध में पेट में स्थित एड्रीनल ग्लैण्ड उत्तेजित हो उठते हैं और उनसे निःसृत होने वाला विष (Adrenal) थोड़ी मात्रा में भी रक्त में मिल जाने पर पाचन क्रिया को बिगाड़ देता है तथा रक्तचाप एवं हृदय के स्पन्दन पर घातक प्रभाव बढ़ाता है। इससे मानसिक शान्ति तो नष्ट होती ही है, साथ ही यह छूत के रोग के समान देखने मात्र से ही अपना विषैला प्रभाव फैलाता जाता है। एक व्यक्ति को क्रोध आया तो उसकी देखादेखी दूसरे को, पुनः तीसरे, चौथे एवं सब सदस्यों को क्रोधरूपी राक्षस अपने चंगुल में लेकर नचाने लगता है। आजकल हृदयाघात, रक्तचाप आदि रोगों का मुख्य कारण क्रोध ही है। क्रोध में विपरीत पक्ष के गुण भी दुर्गुण दिखाई देने लगते हैं। क्रोध एक ऐसा कालकूट है जो सबको दग्ध करने लगता है। क्रोध के समय जो विष निकलते हैं उनका दुष्परिणाम कई मास तक चलता रहता है। क्रोधी व्यक्ति को हृदयरोग एवं रक्तचाप के रोग तो पकड़ ही लेते हैं, इसके साथ उसके चेहरे पर सौम्यता न होकर क्रूरता के चिह्न आ जाते हैं। जहां काम में बाधा होने पर क्रोध पैदा होता है, वहीं काम की पूर्ति हो जाने पर पुनः पूर्ति हेतु लोभ पैदा हो जाता है। लोभ कामाग्नि को ईंधन के समान और भड़का देता है। क्रोध से बुद्धि मोहित होती है और लोभ से भी ममत्व बढ़ता है। इसी को मोह कहते हैं। मोह का ही एक प्रबल माध्यम अहंकार है। इस प्रकार काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार—इन पांचों महाशत्रुओं का मूलकारण काम ही है। अतः काम का परिवार समस्त मनोविकारों का ही रूप ठहरता है। और इसी कारण से भगवान् ने गीता में (16/21) काम, क्रोध और लोभ तीनों को नरक का द्वार कहा है।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।। 16/21, गीता

भगवान् अन्यत्र अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में काम और क्रोध को ही पाप का प्रेरक बताते हैं—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।। 3/37, गीता

एक स्थान पर भगवान् केवल काम को ही सब पापों का आदि कारण और ज्ञान का शत्रु बताते हैं—

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्।। 3/43, गीता

बुद्धि से परे अर्थात् सूक्ष्म तथा सब प्रकार से बलवान और श्रेष्ठ अपनी आत्मा को जानकर और बुद्धि के द्वारा मन को वश में करके हे महाबाहो! अपनी शक्ति को समझकर दुर्जय कामरूप शत्रु को मार। अत: जिसने काम को जीता उसने काम के सारे परिवार को जीत लिया।

कामना का मनोविश्लेषण

मानव मन के दो बड़े स्तर हैं। एक चेतन Conscious और दूसरा अचेतन Unconscious मन। इनके बीच में एक तीसरा स्तर है अवचेतन Semiconscious मन का। श्री अरविन्द चेतन से ऊपर ऊर्ध्वचेतन और अतिचेतन (अतिमानस) स्तर को भी मानते हैं। चेतन मन में वे इच्छायें या कामनाएं रहती हैं जिनका हमें पूरा ध्यान है और उन इच्छाओं को समाज की मर्यादा के अन्तर्गत हम यदाकदा प्रकट भी करते रहते हैं। अचेतन मन में गुप्त, सुप्त, लुप्त इच्छायें, कामनायें या प्रेरणायें दबी रहती हैं जिनका मानव को स्वयं भी ज्ञान नहीं रहता अथवा कम से कम वर्तमान में ज्ञान नहीं है। अवचेतन में दोनों के बीच की स्थिति है। इसमें इच्छाओं का कुछ-कुछ भान होता है। किन्तु वह पुन: छिप जाती है। अचेतन मन की इच्छायें बीज के समान धरती के नीचे छिपी हुई है। अवचेतन मन की कामनायें अंकुर के समान धरती की परत को भेदकर निकलने की चेष्टा कर रही है। और चेतन मन की इच्छायें एक पौधे के समान प्रकट है। यदि अचेतन मन की इच्छायें पूरे पर्दे में रहने वाली, रनिवास की रानियों के समान है तो अवचेतन मन की इच्छायें बुर्के के भीतर से झांकने वाली बेगमें हैं और चेतन मन की कामनायें पर्दा, त्याग कर लज्जा मुक्त भाव से सारे बाजार में घूमने वाली पश्चिम की फैशनबाज लेडी (महिला) के समान है। मन के तीन अथवा पांच स्तर कैसे बनते हैं। यह एक शोध का विषय है। वस्तुत: मानव एक ही है। उसकी चेतना एक है। चेतना के ये स्तर जीव के विकास, वृद्धि तथा सामाजिक मर्यादा, अनुशासन आदि के कारण बन जाते हैं। पश्चिम के मनोविश्लेषकों का कथन है कि मानव के अचेतन मन में सदा ऐसी विद्रोही, क्रान्तिकारी तथा विचित्र प्रवृत्तियां सुप्त पड़ी रहती हैं जिन्हें समाज दुष्टप्रवृत्तियां समझता है। वे प्रवृत्तियां अधिकांश कामोपभोग (Sex) से सम्बन्धित रहती हैं। समाज के अंकुश के भय से वे अचेतन मन में दबी रहती हैं। किन्तु स्वप्नावस्था अथवा समाज का अंकुश ढीला होने पर वे पुन: उभरकर चेतन मन में आने का प्रयास करती हैं। जब तक वे पूर्णरूप से चेतन मन में नहीं आ पाती तब तक अवचेतन में पड़ी रहती है और चेतन में आने के लिए घात लगाए रहती है। ज्योंही वह चेतन मन को असावधान पाती है अथवा व्यक्ति को समाज से दूर एकांत में पाती है या स्वप्नावस्था में जब समाज का मर्यादा का अंकुश भूल जाता है तब चेतन मन पर आक्रमण कर बैठती है। चेतन मन ज्योंही समाज के अंकुश

का ध्यान करता है वह पुनः उन प्रवृत्तियों को भुलाने या दबाने का प्रयास करता है। कुछ प्रवृत्तियां तो दब जाती हैं किन्तु कुछ अधिक प्रबल होने के कारण दबने से इनकार करती है और चेतन मन का तख्ता उलटकर स्वयं मालिक बन बैठती है। ऐसा व्यक्ति समाजद्वेषी, विद्रोही या क्रान्तिकारी कहा जाता है। अचेतन मन की प्रवृत्तियों को बलपूर्वक दबाने से वे प्रबल प्रवृत्तियां चेतन मन की वृत्तियों के साथ संघर्ष करती हैं तथा इस मानसिक संघर्ष से मन में अनेक प्रकार के विक्षेप, विकार और मानसिक रोग पैदा हो जाते हैं। कई बार दो विपरीत प्रबल कामनाओं के द्वन्द्व में मानव का व्यक्तित्व दुविधा में बंटा-फटा सा हो जाता है। उसका एक मन उसे एक दिशा की ओर खींचता है और दूसरा विपरीत दिशा की ओर। कई बार वही व्यक्ति कभी एक वृत्ति की ओर झुकता है और कुछ क्षण बाद विपरीत वृत्ति की ओर। ऐसा व्यक्ति निश्चयात्मिका-बुद्धि नहीं रख पाता। अर्जुन भी कर्तव्य और मोह के बीच, क्षात्र धर्म के कर्तव्य और जाति रक्षा के कर्तव्य के बीच दुविधा में पड़कर धर्मसमूढचेता बन गया था। भगवान् अर्जुन को समझाते हैं—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।। 2/41, गीता

हे कुरुनन्दन! इस क्षेत्र में एकाग्र, एकनिष्ठ (व्यवसायात्मिका बुद्धि) एक आत्मतत्त्व के दिव्य प्रकाश को जानने में लग जाती है। जब मन बुद्धि के अधीन होता है और बुद्धि आत्मा के प्रकाश का अनुसंधान करती है तब वह व्यवसायात्मिका बुद्धि (एक ही व्यवसाय में लगी हुई बुद्धि) एकाग्र कही जाती है। जब बुद्धि आत्मा के प्रकाश से मुंह मोड़कर मन की ओर झुक जाती है तब मन की नाना-इच्छाओं के कारण अनेक विषय-भोगों की ओर लगकर बहुशाखा वाली अव्यवसायी, दूसरे शब्दों में व्यभिचारिणी हो जाती है।

मन के भिन्न-भिन्न स्तरों को कई रोचक उपमाओं के द्वारा समझाया गया है। जैसे एक दो मंजिले मकान के ऊपर के खण्ड में कुछ सुसभ्य एवं सामाजिक प्रतिष्ठा वाले लोग रहते हैं और नीचे वाले खण्ड में कुछ गुण्डे, असामाजिक तत्त्व रहते हैं। दोनों खण्डों के बीच में आधी सीढ़ी पारकर एक छोटी-सी नीमछती (साधारण छोटी कोठी) बनी है। नीचे वाले असामाजिक प्राणी सदा ऊपर वालों को तंग करने की चेष्टा करते रहते हैं। किन्तु ऊपर वालों द्वारा एक चौकीदार की सीढ़ियों में नियुक्ति होने के कारण असामाजिक लोग ऊपर जाने में डरते हैं। कभी चौकीदार के सो जाने, ऊंघने या असावधान होने पर नीचे वाले असामाजिक तत्त्व ऊपर चढ़ जाते हैं और उत्पात मचाना प्रारम्भ कर देते हैं। ऊपर के कोलाहल को सुनकर चौकीदार पुनः जाग उठता है तथा गुण्डों को मारकर नीचे धकेलने की चेष्टा करता है। यदि गुण्डे दुर्बल एवं संख्याबल में कम

हों तो पुनः भागकर नीचे चले जाते हैं। अन्यथा वे चौकीदार से संघर्ष कर उसे उठाकर नीचे पटक देते हैं और स्वयं ऊपर के खण्ड पर अधिकार जमा लेते हैं। कभी वे ऊपर आने के प्रयास में आधे मार्ग में चढ़कर सीढ़ी की कच्ची कोठी में घात लगाए बैठे रहते हैं और अवसर मिलने पर ऊपर हल्ला बोल देते हैं। इस उपमा में ऊपर चेतन मन है नीचे के खण्ड में अचेतन, आधे मार्ग की कोठी है अवचेतन मन। सभ्य लोग चेतन मन की इच्छायें हैं। असामाजिक लोग अचेतन मन की इच्छायें हैं। बीच की कोठी में अवचेतन मन में घात में लगी इच्छायें हैं। चौकीदार सामाजिक मर्यादा का अंकुश है, उसका सो जाना स्वप्नावस्था या समाज के अंकुश का ढीला हो जाना है। गुण्डों का ऊपर भागना अचेतन मन की इच्छाओं का स्वप्नकाल अथवा सामाजिक अंकुश की ढिलाई के काल में पुनः-पुनः चेतन मन में आ जाना है। चौकीदार को उठाकर नीचे फेंक देना सामाजिक अंकुश के प्रति खुला विद्रोह है।

एक दूसरी उपमा में एक किसान है जो खेत की रखवाली बड़ी सजगता से कर रहा है। चारों ओर भेड़ें खेत को चरने के लिए ताक में लगी हैं। जब किसान ऊंघने लगता है तो चारों ओर की भेड़ें खेत में घुसकर खेत को चरना प्रारम्भ कर देती है। नींद खुलने पर वह भेड़ों को डण्डा मारकर भगाता है। कुछ भेड़ें भाग जाती है और कुछ इधर-उधर दूसरे मार्गों से पुनः घुसकर खेत चरने लगती है। इस उपमा में खेत चेतन मन है, किसान सामाजिक अंकुश है, भेड़ें अचेतन मन की दबी हुई इच्छायें हैं जो चेतन मनरूपी खेत को चरने के लिए घात लगाए बैठी रहती है। चेतन मन होश आने पर पुनः उन प्रवृत्तियों को नीचे धकेलना चाहता है किन्तु उन प्रवृत्तियों के अधिक प्रबल होने पर उनके सामने पराजित हो जाता है।

सबसे विचित्र बात यह है कि व्यक्ति स्वयं नहीं जानता कि उसके अचेतन मन में कौन-सी इच्छायें सुप्त पड़ी हैं। इसलिए जब कोई मनोवैज्ञानिक कहता है कि उसके मन में अमुक प्रवृत्तियां अमुक इच्छा सोयी पड़ी है तो वह उसे स्वीकार नहीं करता। पाखण्डी पाखण्ड के कारण स्वीकार नहीं करता, दम्भी दम्भ के कारण स्वीकार नहीं करता। किन्तु दम्भ, पाखण्ड न होने पर भी व्यक्ति अपने अचेतन मन की इच्छाओं को न जानने के कारण उन्हें अपना मानता ही नहीं। वह ईमानदारी से सौगंध खाकर भी कहता है कि मेरे मन में ऐसी कोई इच्छा नहीं है, जबकि उसके अचेतन मन में वह इच्छा सुप्त पड़ी हुई ऊपर उभरने के लिए ताक में लगी रहती है। मानव के अचेतन मन की गुप्त इच्छाओं को अन्तर्यामी परमेश्वर ही जान सकता है। कुछ मात्रा में उन्हें कोई सिद्धयोगी या मनोविश्लेषक भी जान सकता है। अचेतन मन का भण्डार इतना गुप्त है कि उसका नाम लेकर कोई भी चालाक व्यक्ति किसी भोले-भाले व्यक्ति को यह कहकर बहका सकता है कि उसके

अचेतन मन में ऐसी इच्छा या कामना दबी हुई है। व्यक्ति के इनकार करने पर वह चालाक आदमी कह देता है तुम अपने अचेतन मन की इच्छाओं को नहीं जानते किन्तु मैं जानता हूं। तुम्हारे अचेतन में निश्चय ही ऐसी-ऐसी कामना है। इस प्रकार कामना का मनोविश्लेषण कुछ दूर तक सहायक सिद्ध होता है, किन्तु चालाक व्यक्ति इसका मनमाना दुरुपयोग कर भोले-भाले लोगों को ठगते भी रहते हैं। अत: कामना के मनोविश्लेषण में विश्लेषण का पात्र बहुत भोला-भाला, संकल्प का दुर्बल और सहज विश्वासी नहीं होना चाहिए और विश्लेषणकर्ता को स्वार्थी, छली या अंधविश्वास का अनुचित लाभ उठाने वाला नहीं होना चाहिए।

गीता में अर्जुन भोला-भोला, सहज विश्वासी, दुर्बल संकल्प वाला व्यक्ति नहीं था। वह दृढ़निश्चयी था, सुपठित था, विवेकी था तथा प्रत्येक बात को जांच-परख कर मानता था। उसने भगवान् श्रीकृष्ण से बड़े महत्त्वपूर्ण प्रश्न पूछे हैं, यथा– आप हमें अकारण युद्ध की विभीषिका में क्यों धकेल रहे हैं, न जाने हम जीतेंगे या वो जीतेंगे। यदि आत्मा अमर ही है तो युद्ध का नाटक रचने की आवश्यकता क्या है? यदि स्वधर्मपालन के लिए युद्ध करना पड़े तो हमें लाभ क्या होगा? यदि बिना लाभ के विचार के कर्म करना हो तो कर्म की युक्ति क्या है? यदि निष्काम कर्म करना हो तो स्थितप्रज्ञ कैसे बना जा सकता है? यदि कर्म से ज्ञान श्रेष्ठ है तो फिर मुझे युद्ध जैसे घोर कर्म में क्यों धकेल रहे हो? आप अब पैदा हुए हो। सूर्य पहले से है, तो आपने सूर्य को सबसे पहले उपदेश कैसे दिया? आप अवतार कैसे लेते हैं, जब आपको कुछ प्राप्त करना ही नहीं तो आप कर्म क्यों करते हैं? सांख्य और योग में क्या भेद है? चंचल मन को कैसे स्थित किया जाए? ध्यानयोग का रहस्य क्या है? आप सर्वव्यापक कैसे हैं? आपकी विभूतियां क्या हैं? आप रहस्यमय ढंग से कैसे सबके अन्दर समाये हुए हैं। जो सारी विभूतियां बाहर प्रतीत होती हैं वे एकत्र रूप में आप विराट् पुरुष में किस प्रकार समवेत हैं? यदि भक्ति से ही आपके विश्वरूप के दर्शन होते हैं तो भक्ति का रहस्य क्या है? अव्यक्त के उपासक श्रेष्ठ है या व्यक्त के उपासक। शरीर और आत्मा में क्या भेद और क्या सम्बन्ध है। प्रकृति के तीन गुण किस प्रकार कार्य करते हैं। इस संसाररूपी वृक्ष का स्वरूप क्या है और मूल क्या है? दैवी सम्पदा और आसुरी सम्पदा के लक्षण क्या हैं? गुणों के अनुरूप श्रद्धा में क्या भेद है? संन्यास और त्याग में क्या भेद है? क्या संन्यासी को यज्ञ, दान, तप का त्याग कर देना चाहिए या नहीं? चारों वर्णों के कर्तव्य क्या हैं? सात्त्विक ज्ञानप्राप्त व्यक्ति कर्म कैसे करे? आदि ऐसा प्रतीत होता है जैसे अर्जुन एक प्रखर तार्किक के समान श्रीकृष्ण से निरन्तर शास्त्रार्थ करता जा रहा है। वह कोई साधारण भोला-भाला सहजविश्वासी व्यक्ति नहीं है जिसने भगवान् के सामने तुरन्त आत्मसमर्पण कर दिया हो। 18 अध्यायों की दौड़

दौड़ाने के पश्चात् वह पूर्णतः संतुष्ट हो जाने पर भगवान् के सामने समर्पण करता है तभी भगवान् उसको आदेश देते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। 18/66, गीता

भगवान् ही निःस्वार्थ विश्वकल्याणव्रती अन्तर्यामी मनोविश्लेषक हैं। वे अर्जुन के मन के उस छिपे हुए भय को भी जान लेते हैं (कि मैं इच्छामृत्यु-प्राप्त भीष्म और युद्ध में अपराजेय गुरु द्रोणाचार्य को कैसे मारूंगा?) जिसे अर्जुन लोक-प्रतिष्ठाहनन के भय से, चेतन मन से स्वीकार करने को तैयार नहीं है। इसी प्रकार स्वजनों का मोह जो अचेतन मन में दबा हुआ था और कौरवों को शत्रु मानकर वह चेतन मन में प्रकट नहीं होता था, उसे भी अन्तर्यामी श्रीकृष्ण जानते थे। जैसे एक योग्य शल्य चिकित्सक एक्सरे द्वारा जान लेता है कि रोगी के हृदय तथा मस्तिष्क में क्या-क्या विकार है जिसे रोगी स्वयं जानता ही नहीं और शल्य चिकित्सक रोगी के कल्याण के लिए उसकी शल्य चिकित्सा करके हृदय और मस्तिष्क के विकारों को निकाल देता है। उसी प्रकार अर्जुन के अचेतन में छिपे हुए भय और हृदय में स्वजन मोह (जिसके कारण शोक होता है) को भगवान् एक मनोवैज्ञानिक शल्य चिकित्सा से बाहर निकालकर अर्जुन को भय और शोक से मुक्त कर देते हैं। अचेतन मन की कामनायें बीज के समान मनोभूमि में दबी हुई कभी न कभी चेतन मन के धरातल पर प्रकट हो जाती है तब वह व्यक्ति स्वयं भी घबरा उठता है कि मेरे मन में ऐसी अशोभन कामनायें क्यों जागी तथा समाज भी विस्मय करता है कि ऐसा चरित्रवान प्रतिष्ठित व्यक्ति अचानक लोभ या स्वार्थ में इतना कैसे गिर गया। अतः किसी तत्त्वदर्शी निःस्वार्थ गुरु के सम्मुख हृदय खोल देने से अचेतन मन की कामनायें भी ऊपर आ जाती हैं तथा गुरु हमारे मन में झांककर इन कामनाओं के अंकुरों को मनोभूमि से निकाल देने में हमारी सहायता करता है।

कई बार जिस वस्तु की हम कामना करते हैं उस वस्तु के छिन जाने या दृष्टिपथ से हट जाने पर उसकी कामना ढीली पड़ जाती है या विस्मृत हो जाती है। किन्तु अचेतन मन में वह कामना अवसर की घात लगाए पड़ी रहती है और अनुकूल अवसर आने पर पुनः प्रखररूप में प्रकट हो जाती है। राख के नीचे दबी हुई चिनगारी के समान वह अनुकूल वायु के झोंके से पुनः भड़ककर पूरे भवन को आग लगा सकती है। गीता में भगवान् ने कहा है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।। 2/59, गीता

इन्द्रियों को विषयरूपी भोग न मिलने से विषय छूट जाते हैं और इन्द्रियां निराश होकर सूख जाती हैं किन्तु विषयों का रस नहीं छूटता। वह अचेतन मन

में विषयों के शिकार की प्रतीक्षा करता रहता है। जैसे बिल्ली को बहुत दिन तक चूहा न मिलने से वह दुर्बल निराश हुई एक कोने में घात लगाए पड़ी रहती है और चूहे के निकलने पर पुनः झपट्टा मारकर अपनी कामना की पूर्ति कर लेती है। बदरीनारायण की यात्रा में हिमालय की बर्फीली ठण्डक में कई सर्प मिलते हैं जो बर्फ में जमे हुए मृत प्रायः से पड़े रहते हैं। उन्हें छूने, गले में लपेट लेने या इधर-उधर फेंकने से वे नहीं काटते। किन्तु जो बालक खेल हेतु उन सबको घर में उठा लाता है और अंगीठी के पास आग तापने के लिए बैठता है तो वह सर्प भी आग के ताप से पुनः चेतन होकर उस बच्चे को ही काट लेता है।

जैन दर्शन में बंधन दो प्रकार के माने गए हैं। द्रव्य बंध और भाव बंध। द्रव्य बंध विषय-भोगों या वस्तुओं का बंधन है। जैसे शराबी को शराब की बोतल का बड़ा विचित्र आकर्षण पागल बना देता है किन्तु जब बहुत समय तक परिस्थितिवश शराब न मिले, शराबी निर्धन हो जाए, शराब की भट्ठी बंद हो जाए या सरकार की ओर से मद्यनिषेध का अध्यादेश आ जाए या शराबी गंभीर रूप से रुग्ण हो जाए या ऐसी परिस्थिति में फंस जाए जहां वर्षों तक शराब का दर्शन-स्पर्शन न हो सके तो यह नहीं कहा जा सकता कि शराबी सुधर गया है। इसने पिछले 20 वर्ष से शराब नहीं पी है। वास्तव में उसके अचेतन में शराब के प्रति आकर्षण बना रहता है। मन से विषयों का चिंतन करते रहना भाव बंध है। वह व्यक्ति प्रत्यक्ष बोतल की शराब न पी सकता हो किन्तु मन की शराब रोज पीता है। वह शराब और शराबियों के किस्से सुनता है, शराब की महिमा में कविता पढ़कर या सुनकर झूमने लगता है। उसके अचेतन या अवचेतन में शराब की लालसा बोतलप्राप्ति के लिए भूखी बिल्ली के समान घात लगाए पड़ी रहती है।

हमने समझा था कि वर्षात में वर्षेगी शराब
आयी बरसात तो बरसात ने दिल तोड़ दिया।

इस प्रकार का विषयों का मानसिक बंधन, विषयों के रस का बने रहना मानव के भावी पतन का कारण बन जाता है। यह लेश मात्र भी बचा रहे तो भी बहुत बड़े विकार का कारण बन जाता है। दही जमाने वाले मिट्टी के बर्तन में छिद्रों में दही की कुछ लाग बच ही जाती है। इसलिए बरतन को साफ कर लेने पर भी उसमें डाला हुआ दूध बिना जामन के भी दही बन जाता है, छेना का थोड़ा सा रस कड़ाही भर दूध को फाड़ देता है। (अचेतन और अवचेतन) मन में छिपा हुआ विषयों का रस मानव के व्यक्तित्व को कब फाड़ देगा यह कहना कठिन है। किन्तु वह विषयरस पूर्णरूप से निकले बिना मानव का कल्याण नहीं है। भगवान् कहते हैं कि वह विषयरस तभी जाता है जब मनुष्य ब्रह्मानन्द रस को चख लेता है। अश्वत्थामा को उसके निर्धन पिता द्रोणाचार्य प्रतिदिन आटे का घोल दूध कहकर

पिला देते थे। एक बार जब वह अपने मामा के घर गया तो वहां कपिला गाय का बढ़िया दूध पीकर बड़ा आनन्दित हुआ। उसने विस्मय से उस अमृत पेय का नाम जाना कि यही दूध होता है। असली दूध को पीने के बाद जब वह पुनः घर लौटा और पिता ने प्रतिदिन के समान उसे आटे का घोल पीने को दिया तो अश्वत्थामा बोला, पिताजी! अब नहीं, अब नहीं। अब मैंने असली दूध को चख लिया है। अब नकली दूध में कोई रुचि नहीं रही। गुरु नानकदेव ने कहा है—

'वो रस आवा यह रस नहीं भावा।'

ब्रह्मानन्द रस चख लेने के बाद विषयरस तनिक भी मन को मोहित नहीं कर सकते। अतः मन को विषयरस से मुक्त करने, भावबंध से छुड़ाने का यह उपाय है कि मन को उससे श्रेष्ठ, उससे ऊंचा कोई अमर रस पिला दो। शिशु को खिलौने से प्रेम होता है। उसके सम्मुख खिलौना और दस हजार रुपए की गड्डी रखी जाए तो उसे खिलौने में ही रस है, रुपये में नहीं। बालक को लट्टू बिल्लौर (कांच की गोलियां) में और खेलकूद में रस आने लगता है। उसे शैशव की गुड़िया में रस नहीं रहा। किशोर को पतंगों में रस आने लगा है, युवक को जीवनसंगिनी में रस आने लगता है। उसे गुड़िया, पतंग, लट्टू में कोई रस नहीं। प्रौढ़ गृहस्थ को अर्थोपार्जन में रस मिलने लगता है। वह अपनी पत्नी, अपने भोजन तथा संतानों की भी उपेक्षा करके दूर-दूर के स्थानों पर विकट मार्गों में अर्थोपार्जन के लिए जाता है। जिस प्रकार बड़े रस के आने पर छोटा रस अपने आप छूटता जाता है उसी प्रकार धर्म की पुकार पर अर्थ का आकर्षण भी छूट जाता है। भामाशाह ने जीवनभर की और पूर्वजों की सारी कमाई राणा प्रताप के चरणों पर चढ़ा दी। भारतीय संस्कृति में अर्थ ने सदा धर्म को नमस्कार किया है। बड़े-बड़े चक्रवर्ती सम्राट् अपनी चतुरंगिणी सेना लेकर जंगल में जाते और अपने स्वर्णकिरीट, मणिमुकुट के साथ चतुरंगिणी सेना के सहित नितांत अकिंचन् कौपीनधारी ऋषि के चरणों में लेटकर साष्टांग दण्डवत प्रणाम करते। यह अर्थ का धर्म को नमस्कार है। धर्म का अर्थ मोटे तौर पर कर्तव्यपालन ही होता है। यह तभी तक सम्भव है जब तक कि मनुष्य जगत् में है। किन्तु जब जीव को जगत् से जाना है और जगत् को भी एक न एक दिन लय हो जाना है, तब जीव को ऐसा स्थान खोजना है जहां काल का पंजा न पड़ सके, जहां मृत्यु की छाया तक उसे न छू सके। जहां पूर्ण अमृतरस, ब्रह्मानन्द का सुधासिन्धु लहराता हो। जहां अखण्ड-अविनश्वर आनन्द का एकछत्र साम्राज्य हो, ऐसे पद का नाम मोक्ष या ब्रह्मप्राप्ति है। सारे धर्मों का अन्तिम लक्ष्य वही है। इसलिए धर्म को मोक्ष के चरणों में नमस्कार करना चाहिए। इसी अर्थ में भगवान् अर्जुन को कहते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। 18/66, गीता

नरक की सात सीढ़ियां

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में मानव के पतन की सात परिचायक सीढ़ी का संकेत दिया है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।। 2/62, गीता

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।। 2/63, गीता

(क) विषयों का ध्यान

(ख) उससे पैदा होने वाला विषयसङ्ग

(ग) उससे उत्पन्न काम

(घ) काम में बाधा से उत्पन्न क्रोध

(ङ) क्रोध से उत्पन्न बुद्धि का सम्मोह

(च) सम्मोह से स्मृति में बिगाड़

(छ) उससे होने वाला बुद्धिनाश

इन सातों सीढ़ियों के बाद सर्वनाश अनिवार्य है।

(क) विषयों का ध्यान—मन बहिर्मुखी होने पर इन्द्रियों के माध्यम से विषयों की ओर भागता है। विषय का अर्थ है वे वस्तुएं अथवा रस जो इन्द्रियों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। कठोपनिषद् (1-3-4) में इन्हीं को इन्द्रियरूपी घोड़े का चारा कहा गया है—

'विषयास्तेषु गोचरान्।'

इन भोग पदार्थों का वस्तुतः अपना कुछ रस तो होता नहीं किन्तु आत्मा का रस जो कुछ मात्रा में बुद्धि तक आता है, बुद्धि से मन में, और मन से इन्द्रियों के माध्यम से विषयों पर उड़ेला जाता है। उस अपने उड़ेले हुए रस को प्राप्त करने हेतु जीव ललचाने लगता है। राजा भर्तृहरि जब अपना चक्रवर्ती साम्राज्य त्यागकर संन्यासी बनने जा रहे थे तब जाते-जाते उनको मार्ग में एक मुहर चमकती हुई दिखाई दी। ज्योंही उसको पकड़ने के लिए उन्होंने हाथ बढ़ाया तो पता चला जो धूप में मुहर के समान चमक रही थी वह किसी की फेंकी हुई थूक थी। भर्तृहरि को बड़ी ग्लानि हुई कि जब ऐसी कोटि-कोटि मुद्राओं को अपने हाथ से दान कर और सारा राज-पाट त्यागकर मैं संन्यासी बनने जा रहा हूं तब भी थूक में मुहर की कल्पनाकर मेरा मन लुब्ध हो गया है। जैसे ऊपर सविस्तार विवेचना की गई है विषयों में वस्तुपरक (Objective) अपना निजी रस होता तो सब देशों में, सब

कालों में, सब परिस्थितियों में, सब पात्रों को समानरूप से उस रस की प्रतीति होती। किन्तु प्रत्यक्ष अनुभव में हम देखते हैं कि जो एक के लिए हलवा है वही दूसरे के लिए मलवा है।

अत: विषयों की ओर इन्द्रियों से बार-बार देखना, विषयों का बार-बार चिन्तन करना यह पतन की पहली सीढ़ी है। मन की यह विशेषता है कि वह जिसका चिन्तन करता रहता है उससे अपनी तदाकार वृत्ति बना लेता है। सामान्य मनुष्य आंखों से यदि सुन्दर वस्तु या व्यक्ति को देखता है, कान से मधुर संगीत का, नासिका से मोहक सुगंधि का, जिह्वा से स्वादिष्ट व्यंजन को चखता है, हाथों से कोमल वस्तु को स्पर्श करता है, मन से किसी सुन्दर वस्तु या स्थिति की कल्पना करता है, चित्त से उसी विषय का चिन्तन करता है, बुद्धि से उसी का विचार करने लग जाता है और अहंकार से उसी वस्तु का स्वामी बनने की कल्पना करता है। इस प्रकार बाहर की पांच ज्ञानेन्द्रियों तथा चार अन्दर की इन्द्रियों (अन्त:करण चतुष्टय) से जब विषयों का चिन्तन करने लग जाता है तो कर्मेन्द्रियां भी उस वस्तु की प्राप्ति के लिए कर्मशील हो उठती हैं।

भगवान् शंकराचार्य ने आहार का बड़ा व्यापक अर्थ किया है—प्राय: सामान्य लोग आहार का अर्थ केवल भोजन के रूप में प्राप्त विषय ही लेते हैं। किन्तु शंकराचार्य का कथन है कि इन्द्रिय जिन-जिन विषयों का आहरण करती हैं वे सब उनके आहार हैं। अत: नेत्रों से जितने अच्छे-बुरे, शोभन-अशोभन दृश्य हम देखते हैं वे सब इन्द्रिय के आहार हैं। कानों से जो कुछ शोभन या अशोभन सुनते रहते हैं वह कानों का आहार है। नासिका से जो कुछ सूंघते हैं, वह घ्राणेन्द्रिय का आहार है। त्वचा से जो कुछ स्पर्श करते हैं वह स्पर्शनेन्द्रिय का आहार है। सब प्रकार के आहार मिलकर हमारे मन को प्रभावित करते हैं। जो व्यक्ति प्राय: महिलाओं के बीच में उठता-बैठता है, महिलाओं से अधिक वार्तालाप करता है, महिलाओं से अर्थव्यापार करता है, महिलाओं के वचन सुनता है, महिलाओं की महफिल, उनके संगीत और सुगंधि का रस लेता है, उनसे क्लबों में यत्र-तत्र हाथ मिलाता है, उनके साथ अधिक यात्रा करता है; वह व्यक्ति सब इन्द्रियों से नारी संस्पर्श का मानसिक भोग भोगने लगता है। इसे ही शास्त्रों में मानसिक मैथुन नाम दिया गया है। अष्टधा मैथुन में निम्नलिखित उपायों का नाम आता है—

श्रवणं कीर्तनं केलि स्मरणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायं च क्रियानिष्पत्तिरेव च।।

अर्थात् स्त्री के बारे में सुनना, कहना, उससे क्रीड़ा करना, स्मरण करना, एकान्त में उससे बातें करना, मैथुन करने के लिए संकल्प करना, मैथुन का निश्चय करना एवं अन्तिम क्रिया तक जाना—ये आठ प्रकार के मैथुन कहलाते हैं।

इन्द्रियों का विषयों की ओर मुड़ना ही नरक का प्रथम द्वार है। इसका बार-बार अभ्यास होने से विषयों के प्रति आकर्षण पैदा हो जाता है। जिस विषय का बार-बार ध्यान किया जाता है अथवा जिसके बारे में देखने-सुनने, स्पर्श करने का संयोग मिलता है; उसको पुन-पुनः देखने, सुनने, स्पर्श करने की आदत लग जाती है। जिस दिन वैसा इन्द्रिय अनुभव न प्राप्त करे तो कुछ दिन मन और इन्द्रियों को कुछ अभाव की प्रतीति होती है। प्रतिदिन हलवा-पूरी खाने वालों को यदि कुछ दिन सूखा चना चबाने को दिया जाए तो उसे अप्रिय लगता है। प्रायः सिनेमा थियेटर देखने वाले व्यक्ति को यदि परिस्थिति से बाध्य होकर किसी ऐसे गांव में जाना पड़े जहां सिनेमा न हो तो वह सपनों में चलचित्र-तारिकाओं का दृश्य देखता रहता है। संगत की रंगत अवश्य चढ़ती ही है। कठोपनिषद् में कहा गया है कि ब्रह्माजी ने ज्ञानेन्द्रियों को बहिर्मुखी बनाकर मानो इनकी हिंसा ही कर दी है। वास्तव में इन्द्रियां हमें बाहर के जगत् की सूचना देने वाली हमारे चौकीदार-पहरेदार के समान है जो मन को सूचित करे कि अमुक दिशा से आक्रमण करने के लिए विषयों की सेना आ रही है। दुर्भाग्यवश हमारे पहरेदार मनरूपी सेनापति को साथ लेकर विषयों का नाच-गान देखने में मस्त हो जाता है। इस प्रकार ज्ञानेन्द्रियां हमारे ज्ञान के यंत्र न रहकर हमारे अज्ञान एवं मोह बंधन के यंत्र बन जाते हैं।

(ख) **संग—**जिन विषयों का हम बार-बार चिन्तन करते रहते हैं उनके प्रति हमारे मन में संगदोष पैदा हो जाता है। संगत की रंगत एक सर्वविदित मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है जिससे कोई भी बच नहीं सकता। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि, तपस्वी, महात्मा एवं साधक भी संगदोष के कारण पथभ्रष्ट होते हुए देखे गए हैं। फिर सामान्य व्यक्ति की तो बात ही क्या है कि वह संगदोष से बच सके। भगवान् कहते हैं कि जिन विषयों का चिन्तन करते रहोगे उनके प्रति संगदोष अवश्य पैदा होगा। वह भोग वस्तु प्राप्त करने हेतु मनुष्य व्याकुल हो उठता है। उसके प्रति ममता का अंकुर फूटने लगता है। बार-बार उसके निकट जाने की इच्छा पैदा होती है। शराबी का शराब की बोतल में संग हो जाता है और कामी को काम के विषय, साहित्य, मनोरंजन, कामिनी में संग हो जाता है। जिस वस्तु के प्रति संग हो जाता है, उससे विलग रहने में भीषण व्याकुलता होने लगती है। यदि नवयुवक किसी नवयुवती को बार-बार देखता है तो उसके मन में बार-बार उसका ही ध्यान आने लगता है। ध्यान से उसके प्रति संग हो जाता है और उसके साथ घूमने-फिरने, बातचीत करने की चेष्टा होती है। इस संगदोष से फिर उसे अपना बनाने के लिए तीव्र कामना पैदा होती है। यदि विषयों का चिन्तन ही न हो तो संगदोष नहीं होगा। और संगदोष न होने पर उसकी प्राप्ति के लिए तीव्र कामना पैदा नहीं होगी।

(ग) **काम**—वास्तव में अचेतन मन की कामप्रवृत्ति से ही विषयों की ओर ध्यान जाता है। जिसके अचेतन मन से विषयों की कामना नष्ट हो चुकी है वह विषयों की ओर ध्यान ही नहीं देता। उसकी इन्द्रियां विषयों को देखते हुए भी मानो नहीं देखती। बाल ब्रह्मज्ञानी शुकदेव नग्नावस्था में जा रहे थे और स्नान करती हुई व्रजगोपियों को देखकर भी उनके मन में न कोई विकार हुआ और न गोपियों के मन में शंका-लज्जा जागी। स्वामी रामतीर्थ प्रतिदिन लाहौर में अनारकली बाजार से होकर रावी नदी में स्नान करने जाते थे। एक दिन कुछ लोग हस्ताक्षर संग्रह कर रहे थे कि अनारकली बाजार से वेश्याओं को उठाया जाए। जब वे स्वामी रामतीर्थ से हस्ताक्षर के लिए आग्रह करने लगे तब स्वामीजी को यह जानकर अचम्भा हुआ कि उनके दैनिक आने-जाने वाले मार्ग में दोनों ओर वेश्याओं के चौबारे हैं जिसका उन्हें अभी तक भान ही न था। श्रीरामकृष्ण देव वेश्याओं को देखकर भी मां-मां कहकर पुकारने लगते थे। स्वयं अपनी विधिवत परिणीता (पत्नी) में भी वे भगवती के दर्शन करते थे। यहां स्वस्थ युवा शरीर भी है, स्वस्थ इन्द्रियां भी हैं, इन्द्रियों के भोग विषय भी हैं, एक ही मन्दिर में निकट वास भी है किन्तु विषयचिन्तन नहीं है और विषय के प्रति संगदोष भी नहीं है क्योंकि अचेतन मन में भी कोई कामना का बीज या अंकुर नहीं बचा है। चेतन मन से निष्काम अनेक लोग मिल जाएंगे किन्तु जिनके अचेतन मन में भी कोई कामना नहीं बची हो ऐसे सच्चे ब्राह्मीस्थिति वाले स्थितप्रज्ञ महापुरुष बहुत ही विरले हैं। अचेतन मन की कामना से मनुष्य विषयों की ओर बार-बार ध्यान देता है। जैसे कोई नवयुवक छिप-छिपाकर किसी नवयुवती की ओर बार-बार झांकता है किन्तु किसी के पूछने पर वह चेतन मन से अपनी कामना को स्वीकार करने के लिए उद्यत नहीं होता है क्योंकि अचेतन मन की कामना का स्वयं उसे भान भी नहीं है। किन्तु विषय का बार-बार चिन्तन करने से उस विषय के प्रति संग हो जाता है। यह अर्धचेतन मन के स्तर तक रहता है। जैसे कोई नवयुवक किसी नवयुवती से परिचय होने के पश्चात् यदा-कदा आधा छिपकर, आधा प्रकट नवयुवती के संग इधर-उधर घूमता है। क्लब, सिनेमा, सैर आदि से संग बढ़ाता है। उस अवस्था में वह उसे मित्र, सहकर्मी Girl friend या धर्म की बहन बताता रहता है क्योंकि उसे समाज की मर्यादा के अंकुश का कुछ भय रहता है। संग से प्रबल काम जाग उठता है जो चेतन में कामना का तूफान खड़ा कर देता है। इस अवस्था में नवयुवक खुलेआम घोषणा करता है कि मैं विवाह करूंगा तो इसी के साथ अन्यथा आत्महत्या कर लूंगा। अब अचेतन मन का कामबीज चेतन में बलवान वृक्ष बन गया। यह काम कामना के व्यापक अर्थ में सब जीवों को नचा रहा है। यह काम ही जीव को ब्रह्म से पृथक् कर भौतिक जगत् का बंदी बनाने वाला है—

जहाँ काम तहँ राम नहिं जहाँ राम नहिं काम।
तुलसी कबहुँ कि रहि सके रवि रजनी एक ठाम॥

अर्थात् जहां काम है वहां राम नहीं रहते और जहा राम है वहां काम नहीं। जैसे सूर्य और रात्रि एक साथ नहीं रह सकते। इसी अर्थ में काम मानव का सबसे प्रबल शत्रु माना गया है। इसी काम को जीतना, तृष्णा पर विजय पाना, कामनाओं का शांत हो जाना निर्वाण या मोक्ष है।

(घ) **काम में बाधा से उत्पन्न क्रोध**—जब मन में रजोगुण की वृद्धि से काम का वेग बढ़ जाता है तो मन में भयंकर अशान्ति छा जाती है। किसी वस्तु या व्यक्ति की उत्कट कामना से मन पागल हो जाता है, विवेक की दृष्टि लुप्त हो जाती है तथा मन में संकल्प-विकल्प का भयंकर ज्वार-भाटा उठने लगता है। कामना में विरोध या रुकावट होने पर क्रोध उत्पन्न हो जाता है। क्रोध में आंखें लाल हो जाती है, दांत पिसते हैं, मुट्ठियां कस जाती है, नथुने फूल जाते हैं, चेहरा तपकर लाल हो जाता है, आवाज ऊंची हो जाती है, पूरे शरीर में ऐंठन आ जाती है, रोम खड़े हो जाते हैं, हृदय तेज धड़कने लगता है, श्वास और नाड़ी तेज चलने लगती है, श्वास गरम हो जाता है, कभी दूसरों पर प्रहार करने की इच्छा होती है, कभी क्रोध के आवेग से क्रोधी का अपना पूरा शरीर कांपने लगता है, कभी वह क्रोध में अंधा होकर किसी निर्दोष को पीटने लगता है तथा कभी दूसरे को पीटने का अवसर या सामर्थ्य न होने पर स्वयं अपने आप पर ही प्रहार करने लगता है। क्रोध के भयंकर आवेग में मानसिक संतुलन बिगड़ जाने पर अनेक बार हत्या एवं आत्महत्या के भीषण काण्ड घटित हो जाते हैं।

(ङ) **क्रोध से उत्पन्न बुद्धि का सम्मोह**—क्रोध एक ऐसी भयंकर मानसिक आंधी है जो मनुष्य को पागल बना देती है। क्रोध के आवेश में मनुष्य अधीर, उतावला, बावला हो जाता है। उसकी बुद्धि पर पर्दा पड़ जाता है तथा वह अपना-पराया, भले-बुरे का विवेक भी खो बैठता है। क्रोध शराब के नशे से भी बड़ा नशा है जो मनुष्य के भीतर के राक्षस को जगा देता है तथा बिना होश के अंधे जोश में मन को सम्मोहितकर कई दुष्टकर्म करवा बैठता है। नवयुवक का नवयुवती के प्रति काम-भाव जागने पर यदि उसका पिता या भ्राता उसे रोके तो काम क्रोध में बदल जाता है। फिर भी पिता द्वारा रात्रि को प्रेमिका के घर जाने से रोकने पर क्रोधित प्रेमी सम्मोह में पिता को धक्का देकर भी प्रेमिका के घर जा पहुंचता है। मन का संतुलन तथा मन की मननशक्ति शान्ति में रह सकती है, अशान्ति में नहीं। क्रोध मन की सबसे भयंकर अशान्ति है। इसलिए सम्मोह होना अनिवार्य है। क्रोध एक प्रकार का अल्पकालिक पागलपन है। और पागलपन एक प्रकार का दीर्घकालिक क्रोध है। अल्पकालिक क्रोध में मन कुछ समय के लिए अपने आप में नहीं रहता। यदि यह मानसिक सम्मोह कई दिनों या मासों तक बना रहे तो पागलखाने में भरती करना पड़ता है।

(च) **सम्मोह से स्मृति में भ्रम**—जब चित्त सम्मोहित हो जाता है तो श्रुति के तंतु बिखर जाते हैं और मनुष्य यह भूल जाता है कि मैं कौन हूं, कहां पर हूं, किससे झगड़ रहा हूं और, क्या मेरा आचरण ठीक है? या गलत क्रोध में अंधा प्रेमी अपने पिता को धक्का देकर इसलिए निकल जाता है क्योंकि उसे उस समय याद ही नहीं रहता कि रोकने वाला उसका अपना पूज्य पिता ही है। उस समय जो भी सामने आ जाए उसी पर प्रहार कर बैठता है। उत्तम स्मृति के लिए मन शांत होना चाहिए और ध्यान अन्तर्मुखी चाहिए। बहुत बार नेत्र बंद करके वृत्तियों को अन्तर्मुखी करने से भूली हुई बात या भूला हुआ पाठ पुनः स्मृति में आ जाता है। किन्तु क्रोध में जब मन में तूफान आया हुआ है तब पुनः स्मृति का तो प्रश्न ही नहीं, बल्कि जो कुछ पहले क्षण याद था वह भी स्मृति पर से फिसल जाता है। अतः क्रोध मन, स्मृति और बुद्धि तीनों का वैरी है।

(छ) **स्मृति भ्रष्ट होने से बुद्धि का नाश होता है**—बुद्धि का बहुत बड़ा भंडार स्मृति ही है। पिछले अनुभवों की स्मृतियां बनी रहने पर उनसे शिक्षा लेते हुए आगे का प्रकाश देना बुद्धि का काम है। बुद्धि विचार करके निर्णय तभी दे सकती है जब उसके सामने स्मृति की फाइल या संचिका उपस्थित हो। जैसे मजिस्ट्रेट फाइल देखकर ही निर्णय दे सकता है। उसी प्रकार बुद्धि स्मृति की संचिकाओं को देखकर आगमन और निगमन तर्क का सहारा लेकर निर्णय देती है। जैसे कोई भुलक्कड़ व्यक्ति बुद्धि का कोई भी उत्तम कर्म नहीं कर सकता। उसी प्रकार क्रोध से स्मृति नाश होने पर बुद्धि का सर्वथा नाश भी हो जाता है, उसमें विवेक एवं विचार शक्ति बचती ही नहीं। जब बुद्धि जैसी लोक और परलोक को जोड़ने वाली दिव्य प्रकाशमयी ज्योति ही नहीं बची तो बुद्धि का कोई भी काम सम्भव नहीं होगा। तब आगे सर्वनाश ही सर्वनाश है। इस प्रकार ये नरक की सात सीढ़ियां हैं। अचेतन मन की कामना से विषय का ध्यान और विषय का संग और चेतन मन की कामना से क्रमशः क्रोध, सम्मोह, स्मृति-विभ्रम, बुद्धिनाश और अन्त में सर्वनाश हो जाता है।

कामना से बंधन—काम ही पंच महारिपुओं में प्रथम एवं आधारभूत रिपु है। काम का उदय ही अविद्या से होता है तथा इसका परिणाम जीव के बंधन में ही है। भगवान् बुद्ध ने भी तृष्णा और अविद्या को बंधन के दो प्रमुख कारण माना है। हम वस्तुओं की कामना करते हैं, इससे हमारी वृत्ति बहिर्मुखी होती है। हम भिखारी के समान भिक्षापात्र उठाकर नश्वर जगत् के भौतिकवाद के हाट में भोग विलास की दुकान पर भीख मांगने लगते हैं। इससे हम अपनी आप्तकाम पूर्णकाम आत्मा का तिरस्कार करते हैं। जिन वस्तुओं की कामना की जाती है उनके स्वरूप के विषय में अविद्या या अज्ञान होने के कारण जब वे वस्तुएं नष्ट होती या छिन जाती

हैं तब जीव वस्तुओं की ममता से बंधा हुआ दु:ख पाने लगता है। जिन वस्तुओं के प्रति अज्ञानवश राग होता है, विवेक द्वारा उनके नश्वर स्वरूप का ज्ञान होते ही उनके प्रति वैराग्य हो जाता है।

बाहर की चकाचक के नीचे अन्दर की रुलाई को देखा।
सोने के वर्क में लिपटी-सी गोबर की मिठाई को देखा।।

पाश्चात्य देशों के बाहरी सौन्दर्य, टीप-टोप या टीम-टाम, तड़क-भड़क के नीचे उनका ईर्ष्या-द्वेष से जलता हुआ, परस्पर के वैर और क्रोध में धधकता हुआ आन्तरिक जीवन देख लेनेपर ऊपर का बाह्य आकर्षण तुरन्त विकर्षण में, राग वैराग्य में, मोह घृणा में बदल जाता है। स्वामी विवेकानन्द ने ठीक ही कहा है— पाश्चात्य सभ्यता क्या है? एक ज्वालामुखी पर टिकी हुई हलकी-सी लिपिस्टिक की मुस्कान। ज्योंही भीतर का ज्वालामुखी फटेगा तो सभ्यता के चिथड़े उड़ जाएंगे।

जिस नर-नारी के आकर्षण में लोग कामोन्मत्त होकर माता-पिता, भाई-बहन, धन-सम्पत्ति और भगवान् तक को भी त्याग देने के लिए उद्यत हो जाते हैं तथा सौन्दर्य के आकर्षण में बंधे हुए इसी के दर्शन-स्पर्शन, सहवास में फंसे रहते हैं; यदि अकस्मात् उसके सुन्दर शरीर के ऊपर की बहुत पतली चमड़ी का पर्दा हट जाए तब अन्दर का माल-मत्ता, रक्त-मांस-मज्जा-मल-मूत्र का दृश्य देखते ही सभी प्रेमी भाग खड़े होंगे। तब कुत्ते, कबूतर और गिद्ध उस शरीर को नोच-नोचकर खाने के लिए नए प्रेमियों के समान इर्द-गिर्द मंडराने लगेंगे।

काम का बंधन ऐसा विचित्र है कि जहां अन्य बंधनों से बंदी भागना चाहता है वहां काम का बंदी स्वत: काम जाल में फंसता है और उसे काम के बंधन में ही सुख प्रतीत होता है। यह काम का ऐसा बंदीगृह है जिसमें संसार के 99 प्रतिशत लोग अपने आप बंदी होने हेतु एक-दूसरे से स्पर्धा करते हुए दौड़-दौड़ कर चले आते हैं। जहां अन्य कारागृहों में बंदी फाटक तोड़कर अथवा दीवार फांद कर भागने की चेष्टा करते हैं, वहां काम के कारागार में जीव स्वयमेव फाटक तोड़कर या दीवार फांदकर अन्दर घुसना चाहते हैं। यह काम की विचित्र मोहिनी माया है जो बड़े-बड़ों की बुद्धि पर पर्दा डाल देती है और उन्हें अनायास ही बंदी बना लेती है।

स्विट्जरलैण्ड में मैंने देखा कि उन्होंने कुछ छोटी-छोटी कुत्ता गाड़ियां बनायी हैं जिसमें कुत्ता गाड़ी खींचता है। कुत्ता प्राय: गाड़ी खींचने का अभ्यासी न होने के कारण उसकी प्रवृत्ति आगे चलने की नहीं होती है। उसे चलाने के लिए कामना की युक्ति लगाई गई है। गाड़ी के साथ एक लोहे के डण्डे से बंधा हुआ एक मांस का टुकड़ा कुत्ते के मुख से एक फुट आगे लटका दिया जाता है। कुत्ता उस मांस के टुकड़े को प्राप्त करने के लिए दो-चार कदम चलता है किन्तु मांस के टुकड़े का

अन्तर कुत्ते के मुख से सदा एक फुट आगे स्थित रहने के कारण कुत्ता उसे पा नहीं सकता। किन्तु उसे पाने की चेष्टा में वह लगातार चलता रहता है तथा गाड़ी बढ़ती रहती है। संसार में जीव की स्थिति ऐसी ही है, वह कुछ कामनाओं के आकर्षण में जीवनभर गतिविधि करता रहता है और संसार के छकड़े को ढोता रहता है किन्तु अन्त तक उसे प्राप्त कुछ नहीं होता। संसार के भोग यहीं धरे रह जाते हैं और जीव थक-हार कर, मरकर चला जाता है। यह जीवन का दुःखांत नाटक है।

कामवासना

सामान्यतः काम शब्द कामना के अर्थ में प्रयोग होता है। यह कामना खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने, सुनने, स्पर्श करने, सोने, विश्राम करने, धनोपार्जन करके यश पाने आदि की कोई भी कामना हो सकती है। इसे तीन प्रकार की मुख्य कामनाओं में विभाजित किया जा सकता है।

(1) पुत्रैषणा,

(2) वित्तैषणा और

(3) लोकैषणा।

काम का रूढ अर्थ कामवासना (Sex instinct) प्रचलित हो गया है। इसे ही सभ्य भाषा में पुत्रैषणा कहा जाता है। क्योंकि भारतीय संस्कृति में गृहस्थाश्रम गृहस्थ धर्म है, इसलिए काम का वास्तविक उद्देश्य पुत्र-प्राप्ति ही है। भारतीय संस्कृति में पुत्रैषणा का स्थान है किन्तु केवल भोग विलास के लिए भोगैषणा का स्थान नहीं। कामना और एषणा का अर्थ इच्छा है। वासना का अर्थ है वह वस्तु जिसमें मन वास करे। जब मन सौन्दर्य का चिन्तन करते-करते उसी में बसने लगता है या धन का चिन्तन करते-करते उसी में रम जाता है, तब मन की इस वृत्ति को वासना कहते हैं। इच्छा के बार-बार पैदा होने पर और मन के इच्छा का दास बन जाने पर वासना कही जाती है।

स्त्री-पुरुष के परस्पर आकर्षण को काम कहा जाता है। वास्तव में इन्द्रियों के प्रति प्रत्येक विषय का आकर्षण कामना ही है। किन्तु स्त्री-पुरुष के सहवास की कामना को सभ्य भाषा में कोई नंगा शब्द नहीं देकर काम ही कह दिया गया है। स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध कई प्रकार के हो सकते हैं—

(1) पिता-पुत्री का सम्बन्ध—यह शुद्ध स्नेह, संरक्षण एवं कर्तव्यभावना पर टिका हुआ सम्बन्ध है।

(2) माता-पुत्र का सम्बन्ध—यह पवित्र प्रेम, कर्तव्यभावना, माता द्वारा संरक्षण और पुत्र द्वारा पूजा की भावना पर आश्रित सम्बन्ध है।

(3) बहन-भाई का सम्बन्ध—यह परस्पर पवित्र प्रेम, नैतिक आचरण, निष्काम सेवा एवं निःस्वार्थ सहानुभूति का सम्बन्ध है।

(4) पति-पत्नी का सम्बन्ध—यह गृहस्थाश्रम को चलाने के लिए श्रेष्ठ संतान प्राप्तकर समाज का ऋण चुकाने के लिए पंच महायज्ञों द्वारा सबका कल्याण करने एवं श्रेष्ठ तीन आश्रमों को आधार देने के लिए सहधर्म का कर्तव्य-सम्बन्ध है।

(5) प्रेमी-प्रेमिका का सम्बन्ध—यदि स्त्री-पुरुष बिना किसी मर्यादा के बंधन के एक-दूसरे के प्रति आकर्षण रखते हैं तो मानव की उस दुर्बलता को प्रेमी-प्रेमिका सम्बन्ध कहा जाता है। भारतीय धर्मशास्त्र या आचारशास्त्र इसकी अनुमति नहीं देता। किन्तु मानव की सहज दुर्बलता होने के कारण साहित्य में कवियों ने नायक-नायिका के भेदों में ऐसे प्रसंगों की चर्चा की है। मनु भगवान् ने तो यहां तक लिखा है कि बेटे के युवा हो जाने पर उसे अपनी माता या विमाता के साथ एक शय्या पर नहीं बैठना चाहिए। काम ऐसी विचित्र अग्नि है जो युवा स्त्री-पुरुष की निकटता का ईंधन मिलते ही उत्तेजित हो उठती है। अतः युवा भाई-बहिन एवं परिचित स्त्री-पुरुषों को बहुत मर्यादा के साथ व्यवहार करना चाहिए। युवा छात्र-छात्राओं की सहशिक्षा भारतीय परम्पराओं के प्रतिकूल है। घी और अग्नि को पास-पास रखने से कभी भी विनाश की ज्वाला भड़क सकती है। नीतिकारों ने कहा है—

'यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं न करणीयं न चरणीयम्'

अर्थात् चाहे हमारा आचरण शुद्धभावना से हो किन्तु वह यदि लोकविरुद्ध हो तो उसे नहीं करना चाहिए, उसका आचरण कभी नहीं करना चाहिए। विवाहित पति-पत्नी भी यदि खुले बाजार में परस्पर प्रेम-लीला करते चलें तो अशोभन एवं कामोत्तेजक प्रसंग बन जाएगा। दुर्भाग्य से पश्चिमी देशों में प्रेमी-प्रेमिका की स्वच्छन्द प्रेम लीला तथा विवाहितों की निर्लज्ज कामकेलि खूब चलती हैं।

व्यभिचार—कामवासना का सबसे घृणित रूप व्यभिचार है। Physical contact without love is essence of prostitution. Physical contact with love and responsibility is the essence of marriage. Pure love without physical contact is the essence of devotion.

बिना वास्तविक प्रेम के शारीरिक संयोग केवल भोग विलास मात्र के लिए 'सम्भोग' वेश्यावृत्ति का सार है। जो कामी किसी कामिनी के साथ कामवासना की पूर्तिकर जीवनभर के लिए उससे प्रेम करने अथवा उसका उत्तरदायित्व निभाने के लिए प्रस्तुत नहीं है वह वेश्यागिरी द्वारा नारी का शोषण मात्र कर रहा है। शोषण का अर्थ है दूसरे व्यक्ति को अपने स्वार्थ के लिए केवल साधन मात्र बना लेना

तथा उसे साध्य न मानना। जिस प्रकार जूता हमारे लिए साधन मात्र है। घिस जाने या फट जाने पर उसे फेंककर दूसरा जूता खरीद लिया जाता है। इस प्रकार किसी नृशंस अधिनायक के लिए कोई गुलाम मजदूर साधन मात्र है। काम करते हुए यदि आरा मशीन से भुजा कट जाती है तो बेदर्द मालिक उसकी कोई चिन्ता न कर एक दूसरा गुलाम मजदूर काम पर लगा देता है। उसी प्रकार व्यभिचारी व्यक्ति व्यभिचार या बलात्कार का शिकार बनने वाली नवयुवती को केवल साधन मात्र बनाकर अपनी कामवासना की पूर्ति करता है। इससे उसके स्वस्थ जीवन एवं सामाजिक प्रतिष्ठा पर क्या कुप्रभाव पड़ता है इसकी उसे तनिक भी चिंता नहीं रहती। नारी के क्षत-विक्षत हो जाने, बहुत चिन्ताजनक-हालत में पड़ जाने अथवा मर जाने पर वह नए जूते के समान नई कामिनी खोज लेता है। यह मानवता का घोर तिरस्कार है। जो वेश्या यह धंधा करती है वह भी पुरुषों के अर्थ व स्वास्थ्य का शोषण ही करती है। उन्हें जीवन भर सच्चा प्रेम किसी ग्राहक से नहीं रहता। इसलिए व्यभिचार मानवता के माथे पर कलंक है।

व्यभिचार, व्यभिचार की चेष्टा, बलात्कार, बलात्कार की चेष्टा, नारी का अपहरण, सभ्य कहलाने वाले परिवारों में कदाचार, पश्चिम की भौतिकवादी सभ्यता में आधी रात को Night क्लबों में शराब पीकर परायी स्त्रियों की बगल में हाथ में हाथ डालकर स्त्री-पुरुषों का एक दूसरे से लिपटकर नाचना, Nude क्लब में नग्न स्त्री-पुरुषों का निर्लज्ज नृत्य, फैशनों में नंगापन, साहित्य में नग्नता, संगीत में अश्लीलता, नग्न स्त्रियों के चित्रों के कैलेण्डर, एलबम आदि, चलचित्रों में नग्नता एवं निर्लज्ज कामक्रीड़ा सभी कुछ व्यभिचार के ही भिन्न-भिन्न प्रकार हैं। जिस प्रकार बिना वास्तविक प्रेम के स्त्री-पुरुष का शारीरिक संयोग व्यभिचार कहलाता है। यदि उनके शारीरिक संयोग में प्रेम व उत्तरदायित्व का भाव संयुक्त हो जाए तो वह विवाह या गृहस्थाश्रम माना जाएगा।

ब्रह्मचर्याश्रम व गृहस्थाश्रम

भारत के ऋषियों ने पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति हेतु व्यक्तिगत जीवन के विकास के लिए चार आश्रमों तथा सामाजिक जीवन के विकास के लिए चार वर्णों की रचना की। ब्रह्मचर्य आश्रम जीवन की सुन्दर, संस्कारयुक्त, विद्या-विभूषित व चरित्रमण्डित, ज्ञानावलोकित, स्वास्थ्यशक्तिपूरित तैयारी है। गृहस्थाश्रम, ब्रह्मचर्याश्रम में सीखे हुए धर्ममर्यादा के आधार पर काम और अर्थ की प्राप्ति की साधना है। जैसे छोटा पौधा जब तक पूरा वृक्ष नहीं बनता तब तक उसका रस-संचय का काल रहता है, उस काल में वह जितना रस संचय कर लेगा इसी के आधार पर आगे चल कर उसमें पूर्ण फूल लगेंगे। अतः ब्रह्मचर्याश्रम में (विद्यार्थी जीवन में) व्यक्ति जैसा स्वास्थ्यरस, शक्तिरस, ज्ञानरस और धर्मरस का संचय

कर लेगा उसी के आधार पर विश्व में उसके जीवन का भवन खड़ा होने वाला है। यदि ब्रह्मचर्य काल में ही उसने ज्ञान ब्रह्म, वीर्य ब्रह्म और धर्म ब्रह्म का संचय नहीं किया तब गृहस्थाश्रम में आने पर बिना धर्म के अंकुश के उसका अर्थ अनर्थ बन जाएगा और उसका काम, भोग बन जाएगा—

धर्मविहीनं कामं भोगं
संयमहीनं कामं रोगम्।

जो पौधा रससंचय के समय धीरज खोकर शीघ्र ही फल पैदा करने की चेष्टा करता है उसका फल भी कमजोर होगा, कम होगा और कीड़ा लगा हुआ होगा और वह वृक्ष भी जल्दी समाप्त हो जाएगा। गृहस्थाश्रम के काम और अर्थ के उत्तम फल ब्रह्मचर्य के धर्मरस संचय पर निर्भर करते हैं। जिस पौधे को उचित खाद-पानी मिलता है जिसका पोषण उत्तम ढंग से होता है, वही उत्तम फल दे सकता है। ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट व्यक्ति कभी सफल गृहस्थ नहीं बन सकता। जिसका ब्रह्मचर्य नष्ट है उसका ब्रह्मचर्य भ्रष्ट है। उसका गृहस्थ जीवन भी नष्ट होगा।

गृहस्थाश्रम एक धर्म है। केवल पश्चिम के दृष्टिकोण का एक Social contract भर नहीं है। यदि विवाह को केवल सामाजिक ठेका मान लिया जाए तब उसमें धर्म, ईश्वर या समाज मर्यादा पर कोई विचार नहीं रहता। ठेका दो व्यक्तियों के बीच होता है, वह दोनों में से किसी की इच्छा से तोड़ा जा सकता है। जैसे आर्थिक मामलों के ठेके होते हैं उसी प्रकार से विवाह को भी एक लेन-देन या ठेका मान लेना गृहस्थ धर्म का अपमान है। भारतीय परम्परा में विवाह एक कभी न टूटने वाला धर्मबंधन है।

ठेका परस्पर के स्वार्थों की पूर्ति हेतु एक व्यापारिक समझौता है। किन्तु गृहस्थ धर्म ईश्वर और समाज को साक्षी मानकर नि:स्वार्थ कर्तव्यपालन की प्रतिज्ञा है।

पश्चिम में विवाह को एक साझीदारी Partnership माना जाता है, किन्तु भारत में यह साझीदारी न होकर सहधर्म है। पत्नी, जीवनसंगिनीमात्र न होकर सहधर्मिणी बन जाती है। यदि किसी पुरुष के साथ कोई स्त्री किसी कर्मशाला में काम करती है तब सहकर्मिणी होगी। यदि साथ-साथ पढ़ती है तो सहपाठिन् होगी। यदि साथ-साथ यात्रा करती है तो सहगामिनी होगी। संग रहती हो तो वह संगिनी होगी। यदि साथ-साथ व्यवहार करती है तो साझीदार होगी। किन्तु साथ-साथ धर्मपालन करती हो तो वह सहधर्मिणी होगी। भारतीय विवाह में पति और पत्नी मिलकर साथ-साथ पंच महायज्ञों एवं समस्त कर्तव्यों एवं धर्मों का पालन करने का व्रत लेते हैं।

वे काम के सहचर नहीं धर्म के संगी हैं। अतः उनकी सांसारिक सुखोपभोग की सारी कामनायें धर्म पर आधारित, धर्म से अनुमोदित तथा धर्मपालन के लिए ही है। पश्चिम में विवाह काम का लाइसेंस बन जाता है, किन्तु भारत में विवाह धर्म के मांगलिक प्रकाश में कामवासना का पावन परिष्कार है। यह कर्तव्य के राजमार्ग से होकर धर्मदेवता के पावन मन्दिर की दिव्य यात्रा है।

पश्चिम में विवाह को Sex relation कामसम्बन्ध माना जाता है। किन्तु भारत में विवाह कामसम्बन्ध न होकर धर्मसम्बन्ध है।

जहां ब्रह्मचर्य एक स्वतंत्र आश्रम के रूप में प्रतिष्ठित है, वहां ब्रह्मचर्य एक दैवीय गुण है जो सभी आश्रमों में परमोपयोगी है। जो गृहस्थी होकर भी संयम से चलता है वह गृहस्थाश्रम में ब्रह्मचर्य का पालन करता है। इसी प्रकार वानप्रस्थ और संन्यास में भी ब्रह्मचर्य की बड़ी महत्ता है। भारत में विवाह कामवासना की पूर्ति का लाइसेंस नहीं है वरन् कामवासना के परिष्कार का अलौकिक प्रयोग है। गृहस्थाश्रम में पति-पत्नी के यौनसम्बन्धों में धर्मोनुमोदित मर्यादा रहती है। स्वच्छन्द एवं निर्बन्ध यौनाचार की अनुमति गृहस्थाश्रम में भी नहीं है। उससे रज-वीर्य का नाश होकर स्वास्थ्य, मनःशक्ति, बुद्धि, तेज, ओज सभी का विनाश हो जाता है।

वीर्य एक ब्रह्मशक्ति है जो मूलाधार के पास एक कुण्डलित (सर्पिल Spiral) कुण्डली मारी हुई सर्पिणी के समान सुप्त पड़ रहती है। जिस प्रकार कुण्डली मारी हुई सर्पिणी छोटी-सी दिखती है किन्तु कुण्डली खुलने पर उसकी असली लम्बाई का ज्ञान होता है। जिस प्रकार एक तार का चक्राकार स्प्रिंग या Spiral छोटा दिखाई देता है किन्तु खुलने पर उसकी लम्बाई का पता चलता है, उसी प्रकार जो एक विराट् शक्ति हमारे मूलाधारचक्र में कुण्डलित पड़ी रहती है उसे कुण्डलिनी शक्ति कहते हैं। वह वीर्य ही वीरता का मूल मंत्र है। जिसने वीर्य रक्षा नहीं की वह दुर्बल पामर कभी वीर नहीं बन सकता, शारीरिक बल का विकास कर गुण्डा भले ही बन जाए। वीरता तन और मन की वह शक्ति है जो वीर्य की रक्षा से विकसित होती है और मानव को अलौकिक कृत्य करने में समर्थ, इतिहास निर्माता एवं मानवता का परित्राता बना सकती है। महावीर (हनुमान) दुधमुँहें बच्चे के रूप में एक बार अपनी माता अंजनी के हाथ से एक पत्थर की शिला पर गिर गए और शिला चूर-चूर हो गई। जब राम-रावण युद्ध में हनुमान ने रावण को एक घूँसा मारा तो रावण रथ से नीचे जा गिरा। तब अंजनी माता ने अफसोस किया कि यदि मेरे दूध में अधिक बल होता तो हनुमान के एक घूँसे से रावण का प्राणांत ही हो जाता। वीर माता वीर पुत्रों की निर्माता होती है।

माता निर्माता भवति

हनुमान निश्चय ही रावण को मार सकते थे किन्तु मर्यादा की दृष्टि से श्रीराम के हाथ से रावण का संहार उचित जानकर उन्होंने रावण का अपने हाथ से संहार नहीं किया। वीर्य के बल से ही वज्र के अंगों वाले महावीर बजरंगबली बने। भीष्म पितामह का तनबल, मनोबल, प्रतिज्ञाबल, युद्धबल और बुद्धिबल सभी कुछ वीर्य का ही वरदान थे। महाराणा प्रताप, शिवाजी अपने चरित्रबल से ही इतिहास में अमर वीर बनकर पूजित हुए। गुरु तेगबहादुर ने विवाह के बाद लगभग 20 वर्ष तक तपस्या करके एक पुत्र उत्पन्न किया गुरु गोविन्द सिंह जिसने वीरता और बलिदान की एक अभूतपूर्व मर्यादा स्थापित कर दी। स्वामी विवेकानन्द, रामतीर्थ, दयानन्द आदि अपने ब्रह्मचर्य के बल से ही आत्मविजय और आध्यात्मिक विश्वविजय करने में समर्थ हुए। इस प्रकार बिना वीर्य रक्षा के कोई वीर नहीं बन सकता।

जिस प्रकार पानी का प्रवाह प्राय: नीचे की ओर ही होता है और पानी का फव्वारा ऊपर की ओर उठाने के लिए वायु के नोदन का उपयोग करना पड़ता है। उसी प्रकार सामान्य व्यक्ति अधोरेतस होता है। उसका वीर्य नीचे की ओर बहकर नष्ट होता रहता है। यदि किसी 6 खण्ड के भवन में सबसे नीचे के नल खुले हों तो ऊपर के खण्डों में पानी कैसे चढ़ेगा? नीचे के नल बंद करने से ही पानी ऊपर चढ़ सकता है। यदि पानी में दबाव कम हो तो वायु के नोदन से पम्प का प्रयोग कर पानी को ऊपर चढ़ाया जाता है। उसी प्रकार मानव शरीर में जो वीर्य शक्ति नीचे की ओर बहकर नष्ट हो जाती है उसे संयम एवं इन्द्रियनिग्रह द्वारा पतन से रोककर ऊपर उठाने का प्रयास किया जाता है। शरीर के भीतर में षड्चक्रों के अष्ट मण्डलों में धीरे-धीरे वीर्य शक्ति ऊपर उठती है। उसे ऊपर उठाने में प्राणायाम के द्वारा प्राणवायु के नोदन की शक्ति से सहायता ली जाती है। जिसकी वीर्य शक्ति ऊपर की ओर उठती है उसे ऊर्ध्वरेतस कहते हैं। मिट्टी का तेल यदि धरती पर बिखरा हो तो उसे जलाने पर साधारण-सा प्रकाश होता है। ढिबरी में तेल बाती के माध्यम से तनिक ऊपर उठता है इसलिए कुछ प्रकाश होता है। लालटेन में कुछ अधिक प्रकाश होता है। किन्तु जब पैट्रोमैक्स में उसी तेल को पम्प करके वायु के नोदन से ऊपर उठाया जाता है तब वही तेल अत्यन्त उज्ज्वल, प्रखर प्रकाश देने लगता है। वीर्य शक्ति ऊपर उठने से मन को जाग्रत् करती है, बुद्धि को प्रकाशमान करती है। सूक्ष्म तत्त्वों को समझने वाली अत्यन्त निर्मल बुद्धि को प्रज्ञा कहते हैं। ऊपर उठती हुई वीर्यशक्ति प्रज्ञा को तेजस्वी बना देती है। तेज और ऊपर उठकर ओज में परिवर्तित हो जाता है। ब्रह्मरंध्र में पहुंचकर यह शक्ति त्रिकालदर्शिनी प्रज्ञा बन जाती है।

कुण्डलिनी-शक्ति वह शक्ति है जो तपस्या के द्वारा शक्तिमान से मिलना चाहती है। मानव शरीर का मेरुदण्ड एक मेरु (पर्वत) है। इसमें लगभग 30-32 अस्थियां एक के ऊपर एक टिकी हुई हैं। जैसे पर्वत पर शिलाओं पर शिलायें टिकी होती हैं। इस पर्वत के सहारे शक्ति (पार्वती) तपस्या करती हुई धीरे-धीरे ऊपर उठती है। इस कुण्डलिनी-शक्ति के ब्रह्मरन्ध्र में पहुंचने पर शिव-शक्ति का मिलन हो जाता है। उस समय योगी जो अनहद नाद सुनते हैं वह शिव-पार्वती के विवाह के बाजे हैं। उस शिव की बरात में पंच महाभूत, भूतगणों के रूप में बराती बनकर आते हैं। समस्त देवता भी इस दृश्य का आनन्द लेते हैं और पुष्पवृष्टि करते हैं। यह प्रकृति-पुरुष का मिलन, शिव-शक्ति का संयोग, शिव-पार्वती का दिव्य विवाह एक आध्यात्मिक अलंकार एवं जीवन में सर्वोच्च साधनासिद्धि का सुन्दर चित्र है।

भारतीय विवाह में वर-वधू को यही आशीर्वाद दिया जाता है कि शिव-पार्वती के अखण्ड अविभाज्य मिलन के समान तुम्हारा सती-स्वामी का मिलन हो। अतः भारतीय विवाह संसार के सब कर्तव्यों की परिपूर्ति के साथ-ही साथ अन्त में सर्वोच्च पद प्रभुप्राप्ति के लिए आध्यात्मिक साधना है। इसे विवाह के आठ प्रकारों में सर्वोच्च ब्राह्म-विवाह कहा जाता है। वसिष्ठ-अरुंधती, शिव-पार्वती, श्रीरामकृष्ण परमहंस एवं शारदा माता का विवाह ऐसी आध्यात्मिक साधना में परस्पर सहयोग करने वाला ब्राह्मविवाह ही था।

सबसे बड़ी पूंजी जो माता-पिता अपने बच्चों के लिए उत्तराधिकार के रूप में छोड़कर जा सकते हैं, वह है चरित्र की। यौनाचार में पवित्रता (Chastity)—जहां पश्चिम में विवाह कामवासना पर आधारित है वहां भारतीय विवाह सदाचार व सतीत्व पर आधारित है। ऐसे पावन गृहस्थाश्रम की वाटिका में ही महापुरुषरूपी फूल खिलते हैं—

पिता यस्य सदाचारी माता यस्य पतिव्रता।
कांचन कामिनीं दृष्ट्वा न तस्य चलति मनः॥

अर्थात् जिसके पिता सदाचारी हैं और माता पतिव्रता है ऐसे पवित्र दम्पती की जो संतान होगी उसका मन कांचन और कामिनी को देखकर चलायमान नहीं होगा। इसलिए सदाचारपूर्ण गृहस्थी सारी मानवता को चरित्रवान बनाने की कुंजी है। इसकी तुलना में पश्चिम की भौतिकवादी कामपरायण सभ्यता में जो कांचन और कामिनी की अंधी भूख, नंगा नाच नाच रही है उसका चित्रण निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

पिता यस्य कदाचारी माता च पतिवंचिका।
कांचन कामिनी दृष्ट्वा तस्य हि चलति मनः॥

भारतीय संस्कृति धर्म और मोक्ष पर अधिक बल देती है तो पाश्चात्य सभ्यता अर्थ और काम पर ही अधिक बल देती है। भारतीय संस्कृति में अर्थ और काम को उचित स्थान दिया गया है किन्तु उसे धर्म और मोक्ष के सिर पर नाचने की अनुमति नहीं दी गई। उन्हें धर्म के शासन में रहकर धर्म की सेवा करते हुए मोक्ष मार्ग में सहायक होना है। इसी दृष्टिकोण से पवित्र गृहस्थी मोक्ष की सुदृढ़ सीढ़ी बन जाती है।

गृहस्थाश्रम ही समाज में चारित्र्य-पावित्र्य एवं स्थायित्व का आधार है। बच्चे सदाचारी माता-पिता से चारित्र्य के संस्कार पाते हैं। वे पवित्र विचार और पवित्र आचार अपने बड़ों से ही सीखते हैं। इस दृष्टिकोण से जहां सदाचारी माता-पिता अपनी भावी संतानों को सदाचार का संस्कार देकर समाज, राष्ट्र और विश्व मानवता का सुन्दर निर्माण करते हैं वहां कामुक एवं स्वार्थी माता-पिता अपनी भावी संतानों को चोर, लम्पट, ठग एवं कदाचारी बनाने का सामाजिक पाप कर रहे हैं।

A family is the noblest cradle of all social and moral virtues.

एक परिवार समस्त सामाजिक एवं नैतिक सद्‌गुणों के शिक्षण का सबसे श्रेष्ठ पालना है। मनुष्य जब संसार में आता है तब अपने साथ पशुप्रवृत्तियों को लेकर आता है। ये पशुप्रवृत्तियां मनुष्य की प्रकृति है। यदि किसी भी जीवित वस्तु को उसकी प्रकृति पर छोड़ दिया जाता है तो वह विकृति की ओर ले जाती है। इसलिए उसका परिष्कार करना उसकी संस्कृति की आवश्यकता होती है—

संस्काराः परिष्कारः मानवमानसशोधकाः।
तेषां परम्परा श्रेष्ठा संस्कृतिरित्यभिधीयते।।

अर्थात् मानव मन का परिष्कार एवं शोधन करने वाले जितने भाव या कार्य हैं वे सब संस्कार कहलाते हैं। उन्हीं संस्कारों की दिव्य परम्परा का नाम संस्कृति है। क्योंकि प्रत्येक मानव का जन्म किसी न किसी परिवार में होता है इसलिए उसके संस्कारों की श्रृंखला भी परिवार से प्रारम्भ हो सकती है। सबसे प्रथम माता-पिता द्वारा उत्तम संतान के लिए पवित्र संकल्प पुंसवन संस्कार कहलाता है। माता-पिता के संकल्प की छाप बच्चे के मन पर पड़ती है। माता कुंती ने पुत्र प्राप्ति के लिए जैसा-जैसा संकल्प किया वैसे-वैसे गुणों वाले पुत्र प्राप्त किए। माता जीजाबाई ने अपने पवित्र दृढ़संकल्प के आधार पर शिवाजी जैसा धर्मरक्षक वीर पुत्र प्राप्त किया तथा बाद में शैशव के संस्कारों से उसका समुचित विकासकर इतिहास परिवर्तन का चमत्कार कर दिखाया।

महाराष्ट्र के एक गांव में एक छोटी-सी बच्ची खेल रही थी। अकस्मात् कुछ यवन सैनिक एक मन्दिर को तोड़ने के लिए पहुंचे। उस नन्ही बच्ची ने

प्रतिरोध किया। सैनिकों ने बच्ची का उपहास कर उसे एक तरफ हटा दिया और मन्दिर गिराने के लिए हथौड़ा चलाने लगे। बच्ची पुनः डटकर खड़ी हो गई। उसने कहा, पहले मेरे सिर पर हथौड़ा चलेगा फिर देवता के मन्दिर को छू सकोगे। मैं जीते-जी मन्दिर को गिराने नहीं दूंगी। देवता ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है, जो मन्दिर को गिराने का दुष्ट प्रयास कर रहे हो? उन दिनों मन्दिर प्रतिदिन गिरते थे। रोज-रोज ऐसे दृश्यों को देखकर लोगों की संवेदना के तंतु प्रायः मर चुके थे। उन्हें अनुभव ही नहीं होता था कि कोई विशेष घटना घटित हो रही है। किन्तु बच्ची वह सब सहन न कर सकी। कुछ देर पश्चात् उसके माता-पिता को सूचना मिली और वे उसे खींचकर घर ले गए और उसकी इच्छा के विरुद्ध सैनिकों से संघर्ष को रोकने हेतु उसको एक कमरे में बंद कर दिया। बच्ची कमरे की खिड़की से देवालय गिरने का वह असह्य दृश्य देख रही थी तथा वहीं से दांत पीसकर आंसू बहाती हुई सैनिकों को चेतावनी दे रही थी कि तुम्हें इस पाप का दण्ड देकर रहूंगी। सैनिक बच्ची की मजबूरी पर हंसते थे। यह नन्ही बच्ची हमारा क्या बिगाड़ लेगी! किन्तु उस नन्ही बच्ची ने बचपन में जो संकल्प किया और उसी संकल्प की पूर्ति हेतु विवाह होने पर अपनी माता शिवा भवानी से प्रार्थना की कि मेरे अरमानों को पूरा करने वाला एक धर्मरक्षक पुत्र प्रदान करो। उस बच्ची जीजाबाई के पवित्र और दृढ़ संकल्प से ही सदा विजयी छत्रपति शिवाजी जैसा महान् इतिहास निर्माता वीर प्रकट हुआ।

सुभद्रा के बालक अभिमन्यु ने गर्भ में ही चक्रव्यूह भेदन का रहस्य जान लिया। माता-पिता के संतानोत्पत्ति के संकल्प में मनोवैज्ञानिक शक्ति है जिसका प्रमाण इतिहास में बार-बार मिलता है। इसलिए पवित्र गृहस्थाश्रम में दम्पती के पवित्र संकल्प से उत्पन्न संतान तथा नाइट क्लबों, व्यभिचार भवनों या कामवासना पूर्ति के भोग विलास के क्षणों से उत्पन्न संतान में देव और दानव का अन्तर अनिवार्य है।

'The Hand that rocks the cradle shocks the whole world'. माता का जो हाथ पालने को झुलाता है वह सारी दुनिया को हिला सकता है। उस माता के संस्कारों से जो बालक विकसित होगा वह अपनी कर्तृत्व शक्ति से दुनिया को हिला देगा।

—सरोजिनी नायडू

स्वामी संवित् सुबोधगिरि

धर्म

यह हमारा नैतिक आदर्श है जिसमें शरीर से लेकर ब्रह्मपर्यन्त समस्त कर्तव्यों की परिपूर्ति पर बल दिया गया है। धर्म हमारे भारतीय जीवन के ताने-बाने का केन्द्रीय तन्तु है, प्राणबिन्दु है। इसका चारों पुरुषार्थों में महत्त्वपूर्ण योगदान है।

धर्म वस्तुतः अविरोधी होता है। जिन्होंने भी धर्म का विरोध या धर्म को बहिष्कृत करने का प्रयास किया, वे धर्म को बहिष्कृत न कर सके परन्तु एक नीच कोटि के धर्म के उपासक हो गये, असुरता में चले गये। ऐसा स्पष्ट प्रतिपादन लियो टालस्टाय ने अपनी पुस्तक What is Religion में किया है। धर्म की कोई अवधारणा सेमिटिक परम्परा में नहीं है। उनकी अवधारणा Religion तक सीमित है।

अर्थ

अर्थ हमारा आर्थिक एवं राजनीतिक आदर्श है। जिसमें धर्म पर चलते हुए धन-धान्य की प्राप्ति एवं राज्य की वृद्धि एवं समृद्धि को उचित महत्त्व दिया गया है। अर्थ न अनर्थ होना चाहिए, न व्यर्थ। डकैत का पैसा अनर्थ है, कंजूस का पैसा व्यर्थ है। धर्म के द्वारा अर्थ उपार्जित होना चाहिए और व्यापक लोकहित में उसका सदुपयोग होना चाहिए। फिर अर्थ का न अभाव होना चाहिए और न प्रभाव। दोनों स्थितियों में अपराध होते हैं।

अर्थ के अभाव में मनुष्य का विकास रुक जाता है। उसकी सारी चेतना पेट पर केन्द्रित हो जाती है और उसके लिए कुछ भी अपराध करने को तैयार हो जाता है। राष्ट्रपति वराह वेंकट गिरि देश की अतिशय निर्धनता से दुःखी होकर अश्रुपूरित वाणी में कहते हैं—'इस आजाद देश के सामान्य नागरिक को भोजन, कपड़ा और आवास की उतनी सुविधाएं भी प्राप्त नहीं हैं जितनी कि कारागार में कैद भुगतने वाले किसी चोर, डाकू या कातिल जैसे अपराधियों को भी प्राप्त होती है।' इसीलिए भुखमरी का शिकार एक गरीब सज्जन भूख से लाचार होकर अपराधी बनता है ताकि जेल में रोटी-कपड़ा और कोठरी तो मिल जाएगी। इन्होंने

इन्दिराजी को एक योजना भी दी थी जिससे गरीबों को सस्ते में भोजन, वस्त्र, आवास मिल सके। पर इन्दिराजी ने उसे स्वीकारा नहीं। यह सामान्य कहावत है, 'भूखे पेट भजन न होय गोपाला' अतः सबकी प्राथमिक आवश्यकता की अवश्य पूर्ति होनी चाहिए। किसी को अर्थ का अभाव न हो इसके लिए प्राचीन भारत में वर्ण व्यवस्था द्वारा सबकी आजीविका सुरक्षित कर दी गयी थी।

अर्थ के प्रभाव से भी अपराध होता है। जब हम अर्थ को साधन न मानकर साध्य मान लेते हैं कि रुपया खुदा तो नहीं है पर खुदा से कम भी नहीं है। 'बाप बड़ा न भैया, सबसे बड़ा रुपया' आदि भाव आने पर ही चोरी, मिलावट, कालाबाजारी, घूसखोरी, भ्रष्टाचार को प्रश्रय मिलता है। सब बिकाऊ बन जाता है, बस सबकी कीमत अलग-अलग होती है। इसी कारण संयुक्त परिवार टूट रहे हैं। अर्थ के प्रभाव ने ही पश्चिम ने प्राचीन काल में साम्राज्यवाद को, वर्तमान काल में बाजारवाद को, उपभोक्तावादी संस्कृति को, Use and throw की संस्कृति को जन्म दिया। भारतीय संतुलित धर्म आधारित अर्थव्यवस्था ने परिवारवाद को जन्म दिया। परिवार में परिवार के प्रत्येक सदस्य की हितचिन्ता होती है और बाजार में ऐसी वस्तु निर्मित होती थी जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी चले। पर बाजारवाद में विक्रेता की क्रेता को ठगने, लूटने की वृत्ति होती है। तभी आज बाजार अनावश्यक सामानों (विलास की सामग्री, नशे की सामग्री—गुटका, सुपारी के पाउच आदि) से भर गये हैं और Use and throw की संस्कृति को बढ़ावा दिया जा रहा है। धर्म के अभाव में पश्चिमी अर्थव्यवस्था अनर्थ को जन्म दे रही है। पर भारत में धर्म पर आधारित अर्थव्यवस्था ने, अर्थ का प्रभाव किसी पर न हो, अर्थ का संतुलन बना रहे, अर्थ की विषमता न्यून हो, और अर्थ का व्यापक सदुपयोग हो इसलिए यज्ञ, दान एवं ट्रस्टीशिप के भाव को प्रश्रय देकर समाज में अर्थ को संतुलित किया गया था।

काम

काम हमारा मनोवैज्ञानिक आदर्श है। धर्म पर चलते हुए कामनाओं की उचित पूर्ति पर बल दिया गया है। काम का हमारे जीवन में मर्यादित महत्त्व है। बिना काम के कोई स्त्री माता नहीं बन सकती, कोई भी पुरुष पिता नहीं बन सकता। सृष्टि का क्रम आगे नहीं बढ़ सकता। धर्म के अविरुद्ध काम स्वयं में ईश्वरीय कृत्य है, 'एकोऽहम् बहुश्याम' मैं एक से अनेक हो जाऊं और वृहदारण्यक उपनिषद (1/4/1-3) में कहा गया है कि आरम्भ में केवल पुरुषाकार आत्मा था, उसे रमण करने की इच्छा हुई पर एकाकी रमण नहीं कर सकता। अतः उसने उसी आत्मा को दो भागों में विभक्त किया वे ही पति-पत्नी बने। और उसी से सारी सृष्टि का विस्तार हुआ। गीता में भगवान् कहते हैं—

धर्मा-विरुद्धो भूतेषु, कामोऽस्मि भरतर्षभ॥ 7/11

जो काम धर्म के अनुकूल है वह मैं ही हूं। वे पुनः कहते हैं—'प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः' 10/28

मैं प्रजा उत्पादक कामदेव हूं। अर्थात् प्रजनन करने वाले साधनों में मैं स्वयं कामदेव हूं। पुनः गीता में कहते हैं—

मम योनिर्महद्ब्रह्म, तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्व-भूतानां, ततो भवति भारत॥14/3

सर्वयोनिषु कौन्तेय, मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीज-प्रदः पिता॥14/4

हे भारत! महद्ब्रह्म (त्रिगुणात्मक प्रकृति) मेरी योनि है, उसी में सृष्टि के लिए संकल्प रूप गर्भाधान करता हूं। उसी से सभी भूतों की उत्पत्ति होती है।

हे कौन्तेय! सभी योनियों में जो मूर्तियां (शरीराकार अभिव्यक्तियां) उत्पन्न होती हैं, उनकी योनि (कारण) महद् ब्रह्म है और मैं बीजाधान करने वाला पिता हूं। इस प्रकार यहां दोनों जगह आद्य काम पड़ा है। अतः दर्पित काम ही दण्डित होता है। हमारे यहां काम देव हैं, शैतान नहीं। विवाह संस्कार है, गृहस्थ आश्रम है, गर्भाधान संस्कार है। गर्भाधान संस्कार को समझने की आवश्यकता है। एक विराट् सत्ता जो अपने आपका अनुभव करना चाहता है। वही अपने आपको जीव, जगत्, ईश्वर के रूप में प्रकट करता है। उस महान् सत्ता को, पुण्यात्मा, दिव्यात्मा को, अनन्त पथ के पथिक को हम आह्वान करते हैं कि हमारे आंगन में आकार शिशु क्रीड़ा, बाल क्रीड़ा करने, किल्लोल करने, किलकारी मारने को आह्वान करते हैं। इसके लिए भाव की शुद्धि चाहिए, स्थान की शुद्धि चाहिए। हम जैसे-तैसे, जहां-तहां नहीं बैठते, उस स्थान को शुद्ध करते हैं, वहां आसन लगाते हैं, तब जाकर बैठते हैं। हम जैसे-तैसे भोजन नहीं करते, उसके लिए अनेक मर्यादाओं का पालन करते हैं। जब छोटी-छोटी बातों में इतनी सतर्कता बरतते हैं। तो जीवन की इतनी बड़ी घटना है जिसमें किसी पुण्यात्मा को बुला रहे हैं तो क्या उसके लिए भाव की शुद्धि, स्थान की शुद्धि नहीं चाहिए क्या? जिस भाव एवं संकल्प के साथ स्त्री-पुरुष का समागम होता है वैसे ही जीवात्मा आकृष्ट होकर हमारे आंगन में क्रीड़ा करने आती है। अन्यथा कोई असुर आ जावें। माता मदालसा, माता कुन्ती, माता जीजाबाई आदि का उदाहरण हमारे सामने है। अतः हमारे अन्दर शुभ संकल्प पवित्र संकल्प उदित हो इसके लिए गर्भाधान संस्कार है। गर्भाधान संस्कार के लिए वेद में मंत्र है। मैक्समूलर जिसने सारा जीवन वेदों के भाष्य में लगा दिया, जब यह अंश आया तो उसे अश्लील लगा। इसका अंग्रेजी में अनुवाद करने के स्थान पर लैटिन में अनुवाद किया। ताकि सर्वसाधारण इस स्थल को छोड़ देवें, नहीं तो

वेद के नाम से जनता में गलत संदेश जायेगा। चूंकि वह ईसाई परम्परा में पला होने से जहां काम देव नहीं पाप है, शैतान है, विवाह भी न्यूनतम पाप है, अतः इसके महत्त्व को समझ नहीं पाया। हमारे यहां गर्भाधान पुण्य कार्य है, स्त्रीत्व की पूर्णता मातृत्व में है इसलिए हमारे प्रायः सभी देवी-देवता विवाहित हैं। ऋषि-मुनि विवाहित हैं। इसलिए समावर्त्तन संस्कार में गुरु-शिष्य को आदेश देता है प्रजातन्तु का छेदन मत करना। अतः जो धर्म में रहते हुए दाम्पत्य जीवन का सेवन करते हैं उसे हमारे शास्त्र ब्रह्मचर्य ही मानते हैं।

अतः काम हमारे यहां शैतान, पाप एवं अपराध नहीं जैसा कि ईसाइयत स्वीकारती है, इसलिए उनके यहां स्त्री को मातृत्व को बड़ी हेय दृष्टि से देखा गया है। वहां के साहित्यकारों ने मां को बड़ी-बड़ी गालियां दी हैं, तुम मुझे पाप के संसार में लायी हो। हमारे यहां मां-पुत्र का सम्बन्ध सबसे पावन है पर इनके यहां उलटा है। इसलिए काम को दबाने का प्रयास किया। ईसाई धर्म वस्तुतः निवृत्तिमार्गी है, संन्यास धर्म है, प्रवृत्ति के लिए यथोचित स्थान नहीं है। मध्ययुग में यूरोप में एक बहुत बड़ा ईसाइयों का सम्प्रदाय था जिसने लाखों लोगों की जननेन्द्रियां कटवा डाली, स्त्रियों के स्तन कटवा डाले ताकि कामवासना से मुक्ति हो जाए। बहुतों ने आंखें फोड़ ली ताकि कोई सौंदर्य उन्हें आकर्षित न कर सके, शरीर को कोड़े मारे, लहू बहाया ताकि शरीर कोई मांग न करे, रात-रात सोये नहीं ताकि सपना मन को काम विकार में न डाले। यह काम को पाप, शैतान, अपराध मानने का स्वाभाविक परिणाम है। फ्रॉयड धर्म के नाम पर ईसाइयत से और ऐसे ही संतों से परिचित था। और उसमें यह धारणा पैठ गयी कि धर्म कामदमन सिखाता है। इसलिए भी वह धर्म का विरोधी हो गया और धर्म को एक पागलपन, एक अंधविश्वास समझने लगा था जो विज्ञान के प्रकाश में स्वतः लुप्त हो जायेगा।

पर काम को अविवेकपूर्वक दबाने से कामना दबती नहीं, नष्ट नहीं होती वरन् और गहरे में चली जाती है, अचेतन में चली जाती है। गांठ बन जाती है। बीज बन जाती है और वह अनेक शारीरिक व्याधि एवं मानसिक कुण्ठाओं को उत्पन्न कर हमारे व्यक्तित्व को कुण्ठित कर देती है, विक्षिप्त कर देती है, विखण्डित कर देती है, रुग्ण कर देती है। अतः काम को अविवेकपूर्वक दबाया नहीं जा सकता। इसका बहुत अच्छा उदाहरण बौद्ध धर्म है। भगवान् बुद्ध ने स्वयं गैरिक वस्त्र धारण कर परिव्रज्या ली, अपने बूढ़े पिता को भी परिव्रज्या दे दी, अपने नन्हे पुत्र राहुल को भी पीतवस्त्र दे दिया। तब अपनी पत्नी को भी भिक्षुणी बनने की अनुमति देनी पड़ी। इस प्रकार नर-नारी की तीन-तीन पीढ़ियां संन्यासी बनने लगी, आश्रम व्यवस्था गड़बड़ा गई। भगवान् बुद्ध के न चाहते हुए भी स्त्रियों को संघ में प्रवेश देना पड़ा। तब उन्होंने बड़े दुःख के साथ आनन्द से कहा था—यह आन्दोलन जो

1500 वर्ष तक शुद्धता से चलता अब 500 वर्षों में ही समाप्त हो जाएगा। भगवान् बुद्ध ने भिक्षुणियों के लिए कठोर नियम बनाये। सावधानी रखने पर भी कालान्तर में भिक्षु-भिक्षुणियों के मठ आमने-सामने बन गये। बौद्ध धर्म को राज्याश्रय मिल गया। जिससे बौद्ध विहारों में सब सुख-सुविधाएं, सम्मान एवं निश्चिंतता का जीवन उपलब्ध होने लगा। परिणामस्वरूप बड़ी संख्या में अल्पवयस्क तरुण-तरुणी के दल के दल भिक्षु-भिक्षुणी बनने लगे, आमने-सामने मठ बन गये। दीर्घकाल तक कठोर संयम पालन करना उनके लिए सम्भव नहीं हुआ और बीच में गृहस्थाश्रम की कड़ी न होने से उनका मन वाममार्ग की ओर झुक गया जहां पंच मकार की छूट है। फिर भिक्षु-भिक्षुणियों में खुलकर व्यभिचार, पापाचार पलने लगा। अंगदेश (मुंगेर, भागलपुर के) बौद्ध सिद्धों कणहपा, सिरहपा आदि ने बौद्ध दर्शन में वामाचारी तांत्रिकों के पक्ष को मिश्रित करके अपने धर्मग्रंथ की वाणियों में पंचमकार—मद्य, मांस, मीन, मुद्रा, मैथुन की प्रशंसा लिखनी प्रारम्भ कर दी तथा इस अति सीमा तक लिखने लगे कि डोमनी या रजकी के साथ सम्भोग करने पर तुरत निर्वाणपद की प्राप्ति हो जाती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में ऐसे भ्रष्ट बौद्ध सिद्धों की वाणियों को उद्धृत किया है। अपरिपक्वावस्था में काम दमन या त्याग का दुष्परिणाम यह होता है कि उसे 'माया मिली न राम' वाली कहावत चरितार्थ होती है। यानी सांसारिक सुख भोगों को वह त्याग चुका होता है और भगवान् के भजन में मन रम नहीं पाता। यदि वह घर में रहकर सांसारिक सुख-भोगों को भोगता तो एक समय आता कि वह स्वाभाविक रूप से क्रमशः ऊपर उठ जाता। फिर भोगों से विरक्त होकर पूर्णतया पारमार्थिक साधना में लग सकता। वह घर में रहकर ही कुलधर्म के अनुसार कर्म करते-करते और महात्माओं की संगति और उनकी सेवा-टहल से संसार की असारता का तथा अपने नातेदारों की त्याग व सेवा के स्थान पर स्वार्थपरता अधिक एवं ईश्वर की भक्ति करते हुए प्रह्लाद, जनक और अम्बरीष प्रभृति की तरह घर में ही सिद्धि लाभ करते। पर नादान लोग बिना पूर्णता और ज्ञान के घर-गृहस्थी को छोड़कर वन में चले जाते हैं, आश्रम में चले जाते हैं पर कामिनी-कांचन के प्रति आसक्ति छोड़ नहीं पाते, इसलिए सांसारिक निंदा एवं भय से लुक-छिपकर भोगों को भोगते हैं। फलस्वरूप न उससे तृप्ति होती है और न परमात्मा में मन लगा पाते हैं, परिणामस्वरूप लोक-परलोक दोनों ही बिगाड़ते हैं। ऐसे लोगों को लक्ष्य करके गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

ब्रह्म ज्ञान उपजों नहीं, कर्म दियो छिटकाय,
ऐसी आत्मा सहज नरक में जाय।

इस प्रकार भारतीय परम्परा अविवेकपूर्वक, अपरिपक्वावस्था में काम दमन या त्याग का समर्थन नहीं करती।

भारतीय संस्कृति कामनाओं को अविवेकपूर्वक, अशास्त्रीय ढंग से, अमर्यादित ढंग से पूर्ति करने की आज्ञा नहीं देती है। इससे कामनाओं का परिष्कार व परिपाक एवं शमन होने के बजाय और भी अधिक उद्दीप्त होने लगती है जैसे अग्नि में घी डालने से ज्वालाएं और अधिक प्रदीप्त होने लगती है। इस्लाम ने काम प्रवृत्ति को बहुत उभारा है, उसको सम्मानित किया है। मुगल बादशाहों के हरम में हजारों स्त्रियां होती थी। फिर भी और-और की मांग एवं चाह सदा बनी रहती थी। और आज की पाश्चात्य आधुनिक सभ्यता ने, उन्मुक्त उपभोग ने सारे समाज को व्यभिचार भवन बना दिया है और वहां अनेक विकृतियां निर्मित हो रही है, उनका परिवार जीवन, समाज जीवन भी प्रायः समाप्त सा हो गया है।

हमारे यहां इसका सुन्दर प्राचीन उदाहरण राजा ययाति का है जो स्वयं अपने पुत्र की जवानी लेकर भी कामतृप्ति लाभ न कर सका। उन्होंने निष्कर्ष स्वरूप कहा—मैंने काम को, भोगों को नहीं भोगा। काम ने, भोगों ने मुझे भोगकर जर्जर, निस्तेज कर दिया है। आधुनिक उदाहरण—पश्चिम जगत् में एक बड़ा श्रेष्ठ नाम आता है केसानीहा का जो डेढ़ सौ साल पहले हुआ था। वह यशस्वी परन्तु इतना भोगी पुरुष था कि उसका नाम कामपूर्ति का प्रतीक बन गया। लेकिन उसका जीवनदृष्टान्त यह बताता है कि सारे यूरोप को अपने उपभोग का विषय बनाने के बाद भी कामविकार से अन्त में क्या वह सुखी हुआ? केसानीहा का प्रणयी जीवन ऐसा था जो सारी जिन्दगी औरतों पर लुटाता रहा, जीवन भर सम्बन्ध बनाता रहा, छोड़ता रहा और कभी बदनाम नहीं हुआ, आदर्श व्यक्ति माना जाता रहा। वह औरतों के दिलों का सौदागर था, वह जीवन भर औरतों से सम्बन्ध बनाता रहा फिर भी आजीवन कुंवारा रहा। उसने अनेकों पुस्तकें लिखी हैं जिसमें उसने 12 खण्डों में अपनी आत्मकथा लिखी है जो बहुत लोकप्रिय हुई। पर उसका अनुभव भी ययाति से भिन्न नहीं है। इस संभोग से समाधि वाले मंत्र ने आचार्य कण्हपा से आचार्य रजनीश, बालयोगेश्वर, दादा लेखाराम, प्रभातरंजन बाबा तक सभी को डुबो दिया।

कहा जाता है कि रोम के क्लबों में गुसलखाने के सामने वमन कक्ष (Vomiting Rooms) बनाये जाते थे। खाओ और वमन करो। जिह्वा की रस तृप्ति का यह अद्भुत प्रयास था। पर मनुष्य कब तक खा सकेगा। आखिर में हर बात की एक सीमा होती है। अतः निष्कर्ष निकलता है इस तरह तृप्ति नहीं होती है। इतिहास में ऐसे सैकड़ों उदाहरण हैं पर किसी को भी तृप्ति का बोध हुआ हो ऐसा एक भी उदाहरण नहीं है।

इस प्रकार भारतीय परम्परा न अविवेकपूर्वक काम दमन और न अविवेकपूर्वक काम उपभोग की स्वीकृति देती है। वरन् विवेकपूर्वक काम उपभोग

की स्वीकृति देती है ताकि उससे तृप्ति भी हो, फिर समयानुसार काम से उपशम होकर उससे उपराम हो जाए, उससे ऊपर उठ जाए।

अतः गृहस्थाश्रम में शास्त्र की आज्ञा से, गुरुजनों की, बड़े-बुजुर्गों की, माता-पिता की आज्ञा से हम काम का, भोगों का मर्यादित ढंग से सेवन करके एक समय विशेष के पश्चात् स्वयं उससे ऊपर उठ जाते हैं, उपराम हो जाते हैं। इस प्रकार स्पष्टतः गृहस्थाश्रम एक दुर्ग के समान है जहां हम सुरक्षित रहते हुए अपने माता-पिता, भाई-बहिन, चाचा-चाची आदि सबके सहयोग से अपने शत्रु (काम-क्रोध, लोभ) पर विजय प्राप्त करते हैं। गृहस्थाश्रम उलझने के लिए नहीं, कामना के दलदल में फंसने के लिए नहीं है वरन् स्वयं के सुलझने व अन्यों को सुलझाने के लिए है, स्वयं के खिलने व अन्यों को खिलाने के लिए है। अपनी मधुरता, प्रेम, स्नेह, वात्सल्य व सेवा बिखेरने के लिए है।

गृहस्थाश्रम में हम एक मधुर सम्बन्ध को स्वीकारकर घर को एक पाठशाला, एक मन्दिर बनाकर, दोनों मिलकर जीवन को भव्य, सुन्दर, समृद्ध बनाते हैं। अपने प्रेम का, आत्मीयता का विस्तार करते हैं। पति-पत्नी के अन्दर एक ऐसी गांठ होती है जिसे न तो गुरु, न माता-पिता, न भाई-बहिन, न मित्र-सखा खोल सकते हैं। उसे तो केवल पति-पत्नी ही परस्पर की खोल सकते हैं। विवाह के पूर्व दोनों का दस पर मन जाता होगा पर विवाह बंधन के बाद एक-दूसरे पर केन्द्रित हो जाता है। संस्कारी पत्नी अपने पति को अन्य स्त्रियों से विरत कर अपने प्रति अनुरक्त रखती है। फिर समयविशेष आता है जब वह अपने से भी विरत कर देती है। इस प्रकार गृहस्थाश्रम एक दुर्ग है जहां हम सुरक्षित रहते हुए अपनी कामनाओं का परिपाक कर सर्वांगीण विकास साधित करते हैं।

पर संन्यासाश्रम खुले मैदान में रहकर शत्रु (काम-क्रोध, लोभ) पर विजय प्राप्त करना है। यह उन्हीं के लिए शक्य है जिनका विवेक का स्तर ऊंचा है जो पूर्वजन्म में साधना कर चुके हैं पर साधना के परिपाक के पूर्व शरीर छूट गया है। इस जन्म में योगभ्रष्ट के रूप में आए हैं। वे ही सीधे ब्रह्मचर्य आश्रम से संन्यासाश्रम में प्रवेश के अधिकारी हैं, जैसे—सनक, सनत्कुमार, सनंदन, शुकदेव, बुद्ध, महावीर, शंकराचार्य, ज्ञानेश्वर महाराज, स्वामी विवेकानंद, रमण महर्षि, मां शारदा, भगिनी निवेदिता आदि। जिनके जीवन में कोई महत् लक्ष्य है और उसी के लिए तन, मन, धन समर्पित हैं जैसे रामप्रसाद बिस्मिल, चन्द्रशेखर आजाद, भगतसिंह आदि ने बिना गृहस्थाश्रम में प्रवेश किये देश को अपनी सेवायें दी। बहुत से वैज्ञानिक जैसे वर्तमान में पूर्व राष्ट्रपति डॉ. अबुल कलाम भी गृहस्थाश्रम में प्रवेश किए बिना ही अपनी सेवाएं देश और समाज को समर्पित करने के अधिकारी होते हैं।

मोक्ष

मोक्ष हमारा आध्यात्मिक आदर्श है। जिसके द्वारा हम पूर्णता को, अपने मूल आत्मस्वरूप को, ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त करते हैं। भारतीय परम्परा के अनुसार ब्रह्म ही प्रत्येक जीव में प्रत्यगात्मा के रूप में आत्मा के रूप में विलसित है, प्रत्येक जीव शिव ही है, नारायण ही है। 'जीवो ब्रह्ममैव नापरः'। पर वह सोयी हुई अवस्था में है अतः उसे साधना-उपासना के द्वारा जगाना पड़ता है, चित्त शुद्ध करना पड़ता है। अतः चित्त शुद्धि के लिये प्रत्येक मोक्षार्थी को अपने कर्म को निष्काम बना लेना चाहिए। निष्कामता से चित्त शुद्ध होगा तब भगवान् के प्रति प्रेम, विरह उत्पन्न होगा। आत्म जिज्ञासा उत्पन्न होगी। तब गुरु की सन्निधि में जाना चाहिए। उनके निर्देशानुसार साधना करनी चाहिए। तब हम अपने आत्मस्वरूप का लाभ पाते हैं। आत्मब्रह्म-ऐक्य की अनुभूति करते हैं। मोक्ष की अवधारणा सेमिटिक परम्परा में नहीं है। वे स्वर्ग तक सीमित हैं जो भारतीय परम्परा के अनुसार अनित्य है।

धर्म और अर्थ में टक्कर होने से धर्म को महत्त्व देना चाहिए। धर्म को स्वीकारना चाहिए। जैसा कि भगवान् राम एवं भरत ने राज्य को तिलांजलि देकर धर्म को स्वीकारा।

अर्थ और काम में टक्कर होने से अर्थ को महत्त्व देना चाहिए। उसे स्वीकारना चाहिए। जैसा कि विप्लवी बंधुओं में पाते हैं।

धर्म और मोक्ष में टक्कर होने से मोक्ष को स्वीकारना चाहिए। उसे महत्त्व देना चाहिए। जैसा कि स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, महर्षि दयानन्द आदि में पाते हैं। कर्तव्यों का कोई अन्त नहीं है अतः जब आत्मा की पुकार आ जाए तब धर्म को त्यागकर आत्मा को स्वीकारना चाहिए।

जो चारों पुरुषार्थों को लेकर चलता है वह है सद्गृहस्थ।
जो केवल अर्थ और काम को लेकर चलता है, वह पामर जीव है।
जो धर्म और मोक्ष को लेकर चलता है, वह साधक है।
जो केवल मोक्ष को लेकर चलता है, वह है सिद्ध।

भारतीय संस्कृति इन चारों पुरुषार्थों को लेकर चलती है। जो इन चारों आदर्शों को लेकर चलता है, वह एक आदर्श नागरिक, आदर्श मानव, आदर्श पिता, पुत्र, भ्राता, सखा, माता, पत्नी, भगिनी, सखी बनकर अपने जीवन को साथ ही साथ समाज जीवन, राष्ट्र जीवन एवं विश्व जीवन को भी धन्य, कृत-कृत्य करते हैं। भारत की अमरता का रहस्य इन चार पुरुषार्थों को लेकर चलना ही है। पाश्चात्य देश प्रधानतः अर्थ और काम को लेकर चले हैं। विश्व की प्राचीन संस्कृतियों के अवसान का प्रमुख कारण अर्थ व काम को लेकर चलना

है। वर्तमान में पाश्चात्य सभ्यता अवसान पर है। इसका प्रमुख कारण अर्थ और काम की प्रधानता के कारण समाज जीवन व परिवार-जीवन प्रायः समाप्त सा हो गया है। इनमें धर्म और मोक्ष की अवधारणा है नहीं। मजहब की अवधारणा है। वह भी व्यवहार अर्थ और काम प्रेरित है। यद्यपि ईसाइयत निवृत्तिप्रधान है पर व्यवहार में घोर प्रवृत्तिप्रधान है। ईसाई धर्म काम को पाप मानता है, सूई के छिद्र से ऊंट तो पार हो सकता है पर धनी नहीं। स्वर्ग के राज्य में गरीब का प्रवेश है धनिकों का नहीं। पर व्यवहार में घोर कामपरायण और अर्थपरायण हैं। यूरोप के जितने भी देश हैं चाहे स्पेन हो, पुर्तगाल हो, इंग्लैंड हो, फ्रांस हो, जर्मनी हो, रूस हो। सबने अर्थ से प्रेरित होकर ही अपने साम्राज्य स्थापित किए। ये सब साम्राज्यवादी देश हैं। ये जिस-जिस देश में गए उस-उस पर आक्रमण करना, लोगों का कत्लेआम करना, वहां की सभ्यता-संस्कृति का समूल-नाश करना और अर्थ को खूब लूटना और जब तक उनके कब्जे में ये देश रहे सब प्रकार से शोषण करना और ईसाई पंथ को थोपने का प्रयास करते रहना ताकि वे देश सदा के लिए उनके उपनिवेश और बाजार बने रहें। इसी के लिए दो-दो विश्वयुद्ध ईसाई देशों के बीच साम्राज्यों के बंटवारे के लिये हुए। इसी के लिए आठ-आठ क्रूसेड ईसाइयों और मुसलमानों के बीच अपने-अपने साम्राज्य विस्तार एवं उसे कायम रखने के लिये लड़े गये।

धर्म तत्त्व

धर्म एक वैदिक शब्द है। इसका समतुल्य या पर्यायवाची शब्द विश्व के किसी भी साहित्य भण्डार में नहीं है। संस्कृत के 'धृ' धातु से 'धर्म' शब्द बना है जिसका शाब्दिक अर्थ है धारण करने वाला। 'धर्मो धारयते प्रजाः' धर्म ने ही प्रजा को धारण किया हुआ है। जिन नियमों, उपनियमों या गुणों का अवलम्बन कर व्यक्ति, समाज, राष्ट्र व विश्व की सत्ता की धारणा होती है उसे ही धर्म कहा जाता है। धर्म यानी समाज को विधिवत धारण करने वाला शाश्वत सिद्धान्त। धर्म उन विश्वव्यापी नैतिक सिद्धान्तों का बोध कराता है जिससे पूरे समाज और विश्व (चराचर) की सत्ता कायम रहती है। धर्म विश्व-व्यापी नैतिक सिद्धान्तों का विश्वमंगलकारी विधान है।

धर्म को वैदिक काल में 'ऋतम्' कहा जाता था, जिसका शाब्दिक अर्थ 'विश्वव्यापी नैतिक सिद्धान्त' है। इसी 'ऋतम्' शब्द से लैटिन शब्द 'Rect' आदि शब्द बने हैं। अतः धर्म विश्वव्यापी नैतिक शासन है जो सब के व्यापक कल्याण के लिये सब के हित में उचित एवं ठीक है। बिना ऋतम् के न सत्य की ओर अग्रसर हो सकते हैं न ही उसकी उपलब्धि या साक्षात्कार सम्भव है। अतः स्पष्ट है कि परम सत्य की उपलब्धि के लिये ऋतम् (धर्म) का पालन अनिवार्य है।

धर्म के चार स्रोत–

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विध प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्। (मनु 2.92)

श्रुति, स्मृति, सदाचार और अपनी आत्मा (विवेक या अन्तःकरण) का संतोष, यही धर्म के चार आधार या स्रोत हैं।

मनु भगवान ने धर्म के दस लक्षण बताये हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः
धी र्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म-लक्षणम्।।

अर्थात् धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध—ये धर्म के दस लक्षण हैं। ये धर्म के सार्वभौम लक्षण हैं और ये सब के लिये पालनीय आवश्यक हैं। इसे दुनिया का कोई धर्म अस्वीकार नहीं कर सकता। इसलिये इसे सामान्य धर्म कहते हैं। किसी भी देश में किसी भी मत-पंथ को मानने वाला हो धार्मिक कहलाने के लिये इन दस लक्षणों का पालन अनिवार्य है। ईसाइयों के दस कमान्डेन्ट (आदेश) में यही दस लक्षण हैं, इस्लाम में भी यही मिलेगा। भले ही दोनों पंथ का आचरण सदैव इसके विपरीत रहा है।

संस्कृत में एक सुभाषित है जिसमें कहा गया है—

आहार-निद्रा-भय-मैथुनञ्च सामान्यमेतत पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिकोविशेषो धर्मेणहीनाः पशुभिः समानाः।।

आहार-निद्रा, भय और प्रजनन की वृत्तियां पशुओं और मनुष्यों में समान रूप से है। किन्तु मनुष्यों में एक विशेषता अधिक है—वह है धर्म। धर्म से रहित मनुष्य पशु के समान है भले ही उसका चोला मनुष्य का हो, वह वास्तव में पशु ही है। अतः मनुष्य को मनुष्य तभी कहा जा सकेगा जब उसमें मनुष्यत्व (धर्म) हो। धर्म की व्याख्या करते हुए महर्षि कणाद कहते हैं—यतो-अभ्युदय निश्रेयस-सिद्धिः स धर्मः। जिससे लौकिक अभ्युदय व पारमार्थिक निःश्रेयस की सिद्धि हो, वह धर्म है।

धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थ न सेव्यते।।72

(म.भा. स्वर्गारोहण पर्व, अध्याय-5)

महर्षि वेदव्यास भी कह रहे हैं 'धर्म से मोक्ष सिद्ध होता ही है, अर्थ और काम भी सिद्ध होते हैं तो भी लोग उसका सेवन क्यों नहीं करते?'

धर्म हमारे हिन्दू जीवन के ताने-बाने का केन्द्रीय तन्तु है, जीवन प्राण है, जिसके अन्तर्गत हमारा समग्र जीवन गुंथा हुआ है। गर्भाधान से अन्त्येष्टि तक, जन्म से मरण तक, प्रातः जागरण से रात्रि शयन तक, इहलोक से परलोक तक,

जन्म से जन्मान्तर तक कल्प से कल्पान्तर तक हमारे जीवन का कोई भी क्षण, कोई भी कण धर्म से रहित नहीं है। समग्र जीवन धर्म से नियोजित है। जब जीव पेट में आया नहीं, तब से धर्म प्रारम्भ हो जाता है गर्भाधान संस्कार के द्वारा। हमारा सिद्धान्त है, हम सब ईश्वर की संतान हैं अतः जीव अनन्त पथ का यात्री है। इस महान् दिव्यात्मा, पुण्यात्मा को हमारे घर में कल्लोल करने, शिशु लीला, बाल क्रीड़ा करने के लिए आह्वान करने के लिए वेद में मंत्र है, क्योंकि महान आत्मा को बुलाने के लिए भाव की शुद्धि चाहिए। स्थान की शुद्धि चाहिए। इसलिए हमारे यहां गर्भाधान संस्कार है। पाणिग्रहण संस्कार है, गृहस्थ आश्रम है। और जब जीव इस दुनिया से प्रस्थान करता है, जीव चला गया है शरीर छोड़कर तब अन्त्येष्टि संस्कार करते हैं, उस समय पुत्र कपालभेदन कर यह बताने का प्रयास करता है पिताजी इस रास्ते से जाना चाहिए था, इस रास्ते से जाने पर वापस लौटकर संसार में नहीं आना पड़ता। और बड़ा पुत्र ही कपालभेदन करता है, क्योंकि मेरे कारण ही आपका ब्रह्मचर्य व्रत खण्डित हुआ है। ऐसे ही लोक से परलोक तक धर्म से रहित नहीं है। इसके लिए हमने चार जीवन-मूल्य (आदर्श) स्वीकारे—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। धर्म पर चलते हुए अर्थ और काम के द्वारा लौकिक अभ्युदय सिद्ध होता है और मोक्ष के द्वारा पारमार्थिक निःश्रेयस सिद्ध होता है। इन चारों जीवन-मूल्यों को समतुल्य महत्त्व दिया गया है। किसी भी एक जीवन-मूल्य को अधिक महत्त्व देने से अन्य जीवन-मूल्यों को खतरा उत्पन्न हो जाता है। केवल मोक्षपरायण यति धर्म भी गृहस्थ प्रजा के हुए बिना निराधार हो जाता है। और बिना यति धर्म यानी मोक्ष के गृहस्थाश्रम भ्रष्ट हो जाता है और विनाश का, पतन का कारण बनता है। यति धर्म को ही अधिक महत्त्व देने से गृहस्थाश्रम की उपेक्षा हो जाती है और वह कमजोर पड़ने लगता है। जैसा कि बौद्ध काल में और मध्य काल में देखते हैं, और गृहस्थ आश्रम को अधिक महत्त्व देने से यति धर्म उपेक्षित होता है, उससे गृहस्थाश्रम के भ्रष्ट होने की सम्भावना बन जाती है जैसा कि आज हम पश्चिम में और अपने देश में देख रहे हैं। अतः इन चारों जीवन-मूल्यों के संतुलन से ही कोई राष्ट्रीय या मानवीय संस्कृति चिरकाल तक जीवित रह सकती है। हमारी संस्कृति की मृत्युंजयता का यही रहस्य है। और जब-जब देश में इसका संतुलन बिगड़ा तभी देश पतित हुआ है।

धर्म हमारे समग्र जीवन से सम्बन्धित होने से Art of life है। Part of life नहीं जैसा कि हम सेमिटिक परम्परा यहूदी, ईसाई और इस्लाम में पाते हैं। ये तीनों पूजा पद्धति तक सीमित हैं। ईसाई सप्ताह में एक बार चर्च में जाकर धर्म की इतिश्री कर मानवता को त्रास देने, संहार एवं शोषण करने लग जाते हैं या भोग विलास में लग जाते हैं। वही मुसलमान रोजा की नमाज अदा करने के पश्चात् जो इस्लाम को

नहीं मानते वे सब काफिर हैं, और निर्मम ढंग से वध के योग्य हैं अतः उनका संहार करने, वध करने में लग जाता है। ये तीनों के यहां धर्म पूजा पद्धति तक सीमित है यानी Part of life है भारत में धर्म सर्वसमावेशी है। जीवन के सभी पहलुओं या पक्षों का समावेश धर्म में है। कोई भी पक्ष धर्म से अछूता या बाहर नहीं है। धर्म Part of life नहीं वरन् Art of life है पर यह चीज पश्चिम के विचारकों को समझ में नहीं आती। वे धर्म को Part of life समझते हैं सिर्फ उपासना पद्धति या पूजा पद्धति तक ही सीमित रखते हैं, इसलिए भारत का धर्म उन्हें समझ में नहीं आता। धर्म हमारे यहां साध्य और साधन, दोनों है। धर्म ही अर्थ और काम की प्राप्ति करा लोक के अभ्युदय को सिद्ध करता है और धर्म ही हमें अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की ओर अपने आत्मस्वरूप की प्राप्ति या बोध का आधार बनता है। हमें अपने जीवन काल में स्वर्ग या मुक्ति प्राप्त हो जाए, इसी दृष्टि से हमारी संस्कृति, हमारा जीवन रचना है अतएव हिन्दू धर्म नगद धर्म है पर सेमिटिक धर्म में फल प्राप्ति के लिए, स्वर्ग लाभ के लिए कयामत तक इन्तजार करना पड़ता है, तब तक कब्र में पड़े रहने के लिए बाध्य है। इसलिए स्वामी रामतीर्थ उन्हें उधार धर्म कहते हैं।

अतः धर्म भारतीय संस्कृति का केन्द्र बिन्दु है, प्राण है, मेरुदण्ड है। अधर्म से व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का विनाश और धर्म से अभ्युत्थान होता है। महर्षि व्यास की यह स्पष्टोक्ति है—किसी भी दशा में धर्म का त्याग नहीं करना चाहिये, न कामना से, न भय से और न ही लोभ से। धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य हैं, इसी प्रकार जीवात्मा नित्य है और उसके बन्धन का हेतु अनित्य है।

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्, धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुख दुःखे त्वनित्ये, जावो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः।।63

(म.भा. स्वर्गारोहण पर्व अ.–5)

सारी श्रुतियों का सार निकालकर व्यासदेव जी पुनः महाभारत में कहते हैं—

श्रूयतां धर्म सर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।।

आपको जो व्यवहार अपने अनुकूल नहीं लगता वह व्यवहार दूसरों के प्रति नहीं करना। इसी भाव को ईसा ने कहा था—Do unto others as you would to be done by 'जो तुम चाहते हो कि जैसा व्यवहार दूसरे तुम से करें वैसा व्यवहार तुम दूसरों से करो। अर्थात् दूसरों से आत्म विपरीत व्यवहार मत करो। ऐसे ही ईसा का दूसरा वचन है जैसा तुम अपने से प्रेम करते हो वैसा ही पड़ोसी से करो।' 'Love the neighbour as thyself' But why? The answer is not in the Bible, the answer is to be found in the Vedanta ऐसा स्पष्ट कथन पाल ड्यूसन का है। क्योंकि इन वचनों के अनुकूल या आधार में न इनके

पास जीवन दर्शन है और व्यवहार तो सदा इसके विपरीत रहा है। आजतक का इतिहास इसका साक्षी है।

फिर सारे पुराणों का सार निकालकर व्यासदेवजी कहते हैं—

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचन-द्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीड़नम्।। (महाभारत)

परोपकार करना पुण्य है और दूसरों को दुःख देना पाप है यह सारे पुराणों का, सारे धर्म का सार है।

धर्म का सरल सहज अर्थ कर्तव्यपालन से है। शरीर से लेकर ब्रह्मपर्यन्त समस्त कर्तव्यों की विधिवत् परिपूर्ति का नाम ही धर्म है।

शरीर धर्म–शरीर के प्रति सात कर्तव्य हैं—शौच, स्नान, व्यायाम, भोजन, परिश्रम, सेवा और विश्राम।

कुल धर्म—परिवार की सेवा, सुरक्षा और प्रतिष्ठा।

जाति धर्म—जाति की सेवा, सुरक्षा और प्रतिष्ठा।

समाज धर्म—समाज की सेवा, सुरक्षा और प्रतिष्ठा।

देश धर्म—देश की सेवा, सुरक्षा और प्रतिष्ठा।

विश्व धर्म—विश्व की सेवा, सुरक्षा और प्रतिष्ठा।

विश्वपति धर्म—ईश्वर की सेवा, पूजा व प्रतिष्ठा।

अतः धर्म का सरल अर्थ अपने कर्तव्य पालन से है। उदाहरणार्थ यदि एक विद्यालय में प्राचार्य अपने धर्म (कर्तव्य) का उचित पालन करे, अध्यापक अपने-अपने कर्तव्यों का उचित पालन करें छात्र व आदेशपालक भी अपने-अपने धर्म में सचेष्ट रहें तो उस विद्यालय की स्थिति और व्यवस्था बनी रहेगी। यदि उस विद्यालय में से धर्म तत्त्व को निकाल दिया जाय अर्थात् न प्राचार्य अपना कर्तव्यपालन करे, न शिक्षक, न छात्र, न आदेशपालक तो वह विद्यालय क्षण भर में विनष्ट हो जायेगा। अतः स्पष्ट हुआ कि विद्यालय की स्थिति न ईंटों पर निर्भर है, न फर्नीचर पर और न किसी दफ्तर के कागजों की फाइलों पर। विद्यालय की वास्तविक स्थिति तो कर्तव्य पर है। कर्तव्यपरायण गुरु व शिष्य भारत के प्राचीन गुरुकुलों में, अरण्य में, वृक्ष के नीचे बैठकर बड़ी-बड़ी ज्ञान साधनायें कर पाये थे और महान ग्रंथों की रचना कर सके थे। आज देश में सौ से अधिक विश्वविद्यालयों और विश्व के हजारों महाविद्यालयों में बड़े वैभवशाली भवन, ऊंचे वेतन वाले प्राध्यापक और वैभवशाली वेश-भूषा से युक्त छात्र होने पर भी कर्तव्य की भावना के अभाव में ज्ञान या शिक्षा की विशेष प्रगति नहीं हो रही है। इसी प्रकार यदि परिवार में माता-पिता, पुत्र-पुत्री,

सेवक-स्वामी सभी अपने-अपने कर्तव्यों का उचित पालन करें तो परिवार टिका रहेगा अन्यथा धर्म (कर्तव्य) के लोप से परिवार क्षणभर में ध्वस्त हो जायेगा। इसी प्रकार समाज, राज्य, राष्ट्र, मानवता सभी कर्तव्य पर टिके हुए हैं। अतः धर्म उन शाश्वत विश्वव्यापी नैतिक कर्तव्यों का बोध कराता है जिसका किसी पंथ अथवा व्यक्ति से कोई विरोध नहीं है। यह उन शाश्वत मूल्यों का आख्यान है जो मानव समाज की सत्ता एवं व्यवस्था के लिये अनिवार्य हैं। किसी भी परिवार, संस्था या राष्ट्र से कर्तव्य को निकाल दिया जाय तो वह संस्था क्षणभर में ध्वस्त हो जायेगी।

इसलिये धर्म वह नहीं है जिसको हमने धारण कर रखा है। आजकल लोकतंत्र के जमाने में पंच-सरपंच, मुखिया-विधायक, सांसद-मंत्री, प्रधानमंत्री सभी का चुनाव करते हैं। व्यक्ति जीवन में शत्रु-मित्र, पत्नी, साझीदार एवं गुरु तक का चुनाव करते हैं। किन्तु माता का चुनाव कोई नहीं कर सकता। हम माता का क्या चुनाव करेंगे, माता ने ही हमें चुनकर धारण किया है। धर्म माता के तुल्य है। इसे ही सहज धर्म कहते हैं, जन्म से प्राप्त धर्म कहा जाता है। काल अनन्त है आत्मा अमर है। और न जाने कितनी योनियों और कितने जन्मों को पार करते हुए वह आता है। अतः जीव अनन्त पथ का यात्री है। इसलिये वह जन्म-जन्मान्तरों से एक संस्कार का पुञ्ज, एक स्वभाव, एक वृत्ति (वर्ण धर्म) जन्म से ही लेकर आता है। इसे सहजात या जन्मजात धर्म कहते हैं। यह वस्तुओं के समान नहीं है जिन्हें जब चाहें धारण करें या जब चाहें उतार देवें। धर्म हमारे धारण की वस्तु नहीं है वरन् वह शाश्वत नियम है जिसने सारे चराचर (विश्व) को धारण कर रखा है। इसलिये यदि हमें अपना धर्म गुणहीन लगे और पराया धर्म गुणवान लगे तो भी अपने स्वधर्म का पालन ही उचित है। हम अच्छी तरह जानते हैं कि परायी सुन्दर धनवान स्त्री की अपेक्षा अपनी निर्धन एवं रूपहीन माता अधिक कल्याण करने वाली है। ऐसे ही दूसरों के अधिक सुन्दर दिखने वाले धर्म की अपेक्षा अपना कम गुणवाला धर्म ही अधिक कल्याण करने वाला है। इसलिये गीता कहती हैं—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः, परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः, पर-धर्मो भयावह।।3/35।।

अच्छी प्रकार से आचरण में लाये हुए पर-धर्म की अपेक्षा स्वधर्म गुण-रहित होने पर भी अधिक श्रेष्ठ है। पर अपने धर्म में (तो) मरना भी कल्याण-कारक है (और) पर धर्म भय देने वाला है।

पुनः भगवान कहते हैं—

श्रेयान्—स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात।
स्वभाव नियतं कर्म, कुर्वन्-नाप्नोति किल्बिषम्।।18/47

सहजं कर्म कौन्तेय, सदोष-मपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण, धूमेनाग्नि-रिवावृताः।।18/48

अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरे के धर्म (अपने स्वाभाविक धर्म) से गुण रहित (होने पर भी) अपना धर्म (आचरण करना) श्रेष्ठ है, क्योंकि स्वभाव से नियत किये हुए स्वधर्म रूप कर्म को करता हुआ (मनुष्य) पाप को प्राप्त नहीं होता।

हे कौन्तेय! दोषयुक्त होने पर भी सहज कर्म (अर्थात् स्वधर्म, स्वकर्म, नियत कर्म, स्वभावज-कर्म—स्वभाव नियत कर्म) को नहीं त्यागना चाहिये (क्योंकि) धुएं से अग्नि की भांति सभी कर्म (किसी न किसी) दोष से युक्त हैं।

कोई धनवान व्यक्ति सोचे कि जल तो बहुत हलकी एवं प्रायः बिना मूल्य की वस्तु है। मैं तो अपनी मछली का पालन दूध में करूंगा तो मछली भी मर जायेगी और दूध भी खराब हो जायेगा। अतः मछली के लिये जल ही सहज धर्म है, जीवन है। वैसे ही प्रत्येक मनुष्य का जन्म से ही प्रायः गुण या प्रतिभा या वृत्ति या गुण है जो उसका धर्म है।

आज वर्तमान में हमारे देश के पतन के मूल में यही है कि अपने गुणों के अनुसार जिसे जहां होना चाहिये वह वहां नहीं है। लोभ के वशीभूत होकर जिनमें न क्षात्र तेज है, न ब्रह्म तेज, न देश, समाज, धर्म संस्कृति की पकड़ है, न नेतृत्व करने की क्षमता है, न दूर दृष्टि है, न देश के शत्रु-मित्र की पहचान है और न ही कौन देश का राष्ट्रीय समाज है कौन अराष्ट्रीय है इसका बोध है, इस देश की राष्ट्रीयता क्या है, इस देश की राष्ट्रीय भाषा कौन-सी है, इस देश के महापुरुष कौन से हैं, इस देश के तीर्थ कौन-से हैं, इस देश के मान बिन्दु कौन-से हैं, इस देश का इतिहास कौन-सा है, इस देश का ध्वज कौन-सा है, इस देश का स्वभाव कौन-सा है, इस देश का विधान कैसा होना चाहिये, इस देश का संविधान कैसा होना चाहिये आदि का बोध नहीं है। जो अपराधी किस्म के व्यक्ति हैं, सभी प्रकार के अपराधों में लिप्त हैं, जिन्हें जेल में होना चाहिये, फांसी के फंदे में झूलना चाहिये, प्रायः वे सभी राजनीतिक पार्टियों के नेता बने हुए हैं और देश का नेतृत्व कर रहे हैं। जिनमें ब्रह्मतेज नहीं है वह संन्यासी बने हुए हैं, जिनमें वैश्य वृत्ति नहीं वे सब आर्थिक नीतियों के निर्धारक बने हुए हैं, जिन्होंने आज तक बंदूक पकड़ी नहीं सदैव दूसरों की मार खाते रहे वे रक्षामंत्री बन जाते हैं, जिनमें सेवक वृत्ति नहीं वे सेवक बने हुए हैं।

धर्मो रक्षति रक्षितः—जो धर्म का पालन करता है धर्म भी उसकी रक्षा करता है। जितनी मात्रा में हम धर्म का पालन करते हैं उतनी मात्रा में धर्म हमारी रक्षा करता है। जैसे शरीर धर्म का जितना हम पालन करेंगे उतनी मात्रा में शरीर हमारी

रक्षा करेगा या साथ देगा। वैसे ही हम परिवार धर्म का पालन करेंगे तो परिवार भी हमें सुरक्षा व प्रतिष्ठा प्रदान करेगा। वैसे ही समाज धर्म, राष्ट्र धर्म, विश्व धर्म का पालन करेंगे तो ये भी हमें सेवा, सुरक्षा व प्रतिष्ठा प्रदान करेंगे।

धर्म के इस स्वरूप का न किसी से विरोध है और न भविष्य में हो सकता है। इसे सार्वभौम धर्म या सामान्य धर्म कहते हैं जो हर किसी के लिये पालनीय है। यह धर्म व्यक्ति, देश और काल की सीमा से परे, सब के लिये, सभी काल, सभी देशों के लिये है तो धर्म का यह न बदलने वाला रूप है जो सार्वभौम, सार्वकालिक, सार्वजनीन है। इसे ही सामान्य धर्म कहते हैं।

धर्म का एक दूसरा रूप है जो देश-काल, पात्र, परिस्थिति के अनुसार बदलता जाता है। यह धर्म आचरण से सम्बन्धित होता है। धर्म के दो रूप हैं एक न बदलने वाला रूप जिसकी चर्चा हमने अब तक की। दूसरा धर्म का बदलने वाला स्वरूप जो आचार से सम्बन्धित होता है। इसे विशेष धर्म कहते हैं जिसकी चर्चा अब हम कर रहे हैं—

स्व के अनुरूप धर्म (कर्तव्य या आचरण) होता है। यह वर्ण धर्म, आश्रम धर्म के अनुसार होता है। हम ब्राह्मण हैं तो एक कर्तव्य हैं, हम क्षत्रिय हैं तो एक कर्तव्य हैं, हम वैश्य हैं तो एक कर्तव्य हैं, हम शूद्र हैं तो एक कर्तव्य है जिसे गीता में बड़ी सुन्दरता से बताया है—

शमो दमस् तपः शौचं, क्षान्ति-रार्जव-मेव च।
ज्ञानं विज्ञान-मास्तिक्यं, ब्रह्म-कर्म स्वभावजम्।। गीता 18/42

शम (अर्थात् अंतःकरण का निग्रह), दम (इन्द्रियों का संयम), तप (बाहरी और भीतरी) शुद्धता, क्षमा, सरलता, (शास्त्र) ज्ञान, विज्ञान (अर्थात् तत्त्व की अनुभूति), आस्तिक्य (शास्त्र आदि में श्रद्धा)—ये (सब) ही ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं।

शौर्य तेजो धृतिर्-दाक्ष्यं, युद्धे चाप्य-पलायनम्।
दान मीश्वर-भावश् च, क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।। गीता 18/43

शूरवीरता, तेज, धृति, दक्षता और युद्ध में भी न भागना, दान तथा ईश्वर भाव (अर्थात् दूसरों पर शासन करने की क्षमता)—ये (सब के सब) क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं।

कृषि-गौरक्ष्य-वाणिज्यं, वैश्य कर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म, शूद्रस्यापि स्वभावजम्।। 18/44

खेती, गोपालन और वाणिज्य—ये वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं तथा सेवा-शुश्रूषा रूप कर्म शूद्र का स्वाभाविक (कर्म) है।

ऐसे चारों आश्रम के अलग-अलग कर्तव्य हैं। मैं अगर ब्रह्मचारी हूं तो अलग कर्तव्य है, गृहस्थ हूं तो अलग कर्तव्य है, वानप्रस्थी हूं तो अलग कर्तव्य है, संन्यासी हूं तो अलग कर्तव्य है। ऐसे ही राजा हूं तो अलग कर्तव्य है प्रजा हूं तो अलग कर्तव्य, सेवक हूं तो अलग कर्तव्य है, स्वामी हूं तो अलग कर्तव्य है। पिता हूं तो अलग कर्तव्य है, पुत्र हूं तो अलग कर्तव्य है। माता हूं तो अलग कर्तव्य है, पुत्री हूं तो अलग कर्तव्य है। एक ही व्यक्ति पिता भी है, भ्राता भी है, पति भी है, पुत्र भी। ऐसे ही एक ही स्त्री माता भी है, पत्नी भी है, भगिनी भी है, पुत्री भी है। अतः संदर्भ के अनुसार, स्व के अनुसार अलग-अलग कर्तव्य हो जाते हैं। इसे ही विशेष धर्म कहते हैं जो देश-काल, पात्र, परिस्थिति, अवस्था विशेष के अनुसार बदलते रहते हैं।

इस प्रकार धर्म के दो रूप हैं एक न बदलने वाला रूप जो देश-काल, पात्र, परिस्थिति, अवस्था निरपेक्ष सार्वकालिक, सार्वभौमिक व सार्वजनीन है। इसे ही सामान्य धर्म कहते हैं। और एक धर्म है जो देश-काल, पात्र, परिस्थिति, अवस्था विशेष के अनुसार बदलता रहता है, उसे विशेष धर्म कहते हैं।

व्यक्ति जीवन, परिवार जीवन, समाज जीवन, राष्ट्र जीवन और विश्व जीवन को स्वस्थ, सबल पूर्णता की ओर ले जाने के लिये सामान्य धर्म और विशेष धर्म, दोनों का पालन अनिवार्य है। अतः सब का धार्मिक होना आवश्यक है। पर आध्यात्मिक होना अनिवार्य नहीं है।

धर्म का ईश्वर के साथ अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। अतः धर्म का उपासना पद्धति के साथ कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। हमारे यहां बहुत से महापुरुष हो गये जो समष्टि चेतना या ईश्वरीय चेतना को नहीं मानते हैं। वर्तमान युग में प्रातः-स्मरणीय, वंदनीय, अर्चनीय ईश्वरचन्द्र विद्यासागर थे। उन्हें ईश्वरीय सत्ता पर विश्वास नहीं था। अतः वे धार्मिक तो थे पर आध्यात्मिक नहीं थे। रामकृष्णदेव ने कहा था—अभी तक मैंने विद्या के पोखर, नालों, नदियों को देखा ये तो साक्षात् विद्या के सागर हैं। अगर ये थोड़ा ध्यान-भजन किये होते तो और कितनी ऊंचाई को छू सकते थे और मानवता की और अधिक सेवा कर सकते थे। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ईश्वर विश्वासी नहीं होने के बाद भी महापुरुष और समाज संस्कारक माने गये हैं। वैसे प्राचीन काल के विचारक नास्तिक शिरोमणि, चार्वाक को भी अपने यहां ऋषि माना गया।

ईश्वर की आवश्यकता तब होती है जब हम व्यष्टि चेतना को समष्टि चेतना (ईश्वर) से जोड़ना चाहते या व्यष्टि चेतना को समष्टि चेतना तक विकसित करना चाहते हैं, इसके पूर्व नहीं। ईश्वर से जुड़ने या समष्टि चेतना तक विकसित होने के लिये पंथ, सम्प्रदाय या Religion की आवश्यकता होती है।

अंग्रेजी का Religion (रिलिजन) शब्द दो शब्दों से बना है—Re+Legare 'Re' का अर्थ है दोबारा या वापस। Legare का अर्थ है बांधना। अतः Religion का शाब्दिक अर्थ है वापस अपने मूलधाम से बंधना; क्योंकि सब जीवों का मूलधाम परमेश्वर ही है। इसलिये वापस परमेश्वर की ओर लौटना व अपने मूलधाम से सम्बन्ध जोड़ना ही Religion का शाब्दिक अर्थ है। (Swami Raman His life and legacy P. 664)

Oxford concise dictionary के पृष्ठ 1048 पर Religion शब्द के निम्नलिखित अर्थ दिए हुए हैं—

1. Monastic condition, being Monk or Nun (मठ-व्यवस्था, साधु या साध्वी होना)
2. Practice of Sacred Rites (पवित्र कर्मकाण्ड का पालन)
3. One of the Prevalent Systems of faith and worship (विश्वास एवं पूजा की प्रचलित विधि) जॉन येल के शब्दों में Realization of divinity is religion अर्थात् दिव्यता की साधना ही धर्म है, Religion है। What religion is (P. X X IV) Religion is path of God realization or self realization.

Religion ईश्वर-प्राप्ति या आत्मसिद्धि की साधना है। स्वामी विवेकानंद कहते हैं—Religion is manifestation of the divinity already in man इस प्रकार धर्म की व्यापक गोदी में समय-समय पर विकसित होने वाली भिन्न-भिन्न साधनाओं को Religion कहा जा सकता है। जैसे योग साधना, तंत्र साधना, मंत्र साधना, कर्मयोग साधना, अहिंसाव्रत साधना, जीव-दया साधना, यज्ञकर्म साधना, संकीर्तन साधना, सेवा-स्मरण साधना आदि। इस दृष्टि से हिन्दू व्यापक अर्थ में शाश्वत धर्म है, जो अनादि है, किन्तु उसी के अन्तर्गत ब्रह्म दर्शन या आत्मदर्शन हेतु पतंजलि, बुद्ध, महावीर आदि शंकराचार्य, चैतन्य, नानक, कबीर, तुलसी, मीराबाई आदि ने साधना के भिन्न-भिन्न पंथ भी दिखाए, जिन्हें साधना पथ या Religion माना जाता है।

सम्प्रदाय शब्द एक विशिष्ट पूजापद्धति या साधना पद्धति का परिचायक होने से धर्म से कम व्यापक है, किन्तु भारत में किसी सम्प्रदाय का धर्म के व्यापक अर्थ से आधारभूत मतभेद या द्वेष न होने के कारण जहां पंथों और सम्प्रदायों को भी धर्म जैसा सम्मानसूचक नाम दे दिया गया कि जैसे—जैन धर्म, बौद्ध धर्म, वैष्णव धर्म, शैव धर्म, शाक्त धर्म आदि। महाभारत में कहा गया है कि जो धर्म किसी अन्य धर्म के विरुद्ध पड़ता है वह धर्म है ही नहीं। जो धर्म अविरोधी होता है, वस्तुतः वही धर्म है।

धर्मो यो बाधते धर्म न साऽधर्मः कुवमेतः
अविरोधी तु यो धर्मः स धर्मो मुनिसतम॥

इसलिये हमारा धार्मिक आदर्श सर्वधर्म समभाव और राष्ट्रीय आदर्श वसुधैव कुटुम्बकम्, हमारा आध्यात्मिक आदर्श—

सर्वे सन्तु सुखीनः, सर्वे सन्तु निरामया,
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मां कश्चित दुःख भाव भवे॥

शिकागो की धर्मसभा में स्वामी विवेकानन्दजी ने कहा—मैं एक ऐसे धर्म का अनुयायी होने में गौरव का अनुभव करता हूं जिसने संसार को सहिष्णुता तथा सार्वभौम स्वीकृति, दोनों की शिक्षा दी है। मुझे एक ऐसे देश का व्यक्ति होने का अभिमान है जिसने इस पृथ्वी की समस्त पीड़ित और शरणागत जातियों तथा विभिन्न धर्मों के बहिष्कृत मतावलंबियों को आश्रय दिया है। मुझे यह बतलाते हुए गर्व हो रहा है कि जिस वर्ष यहूदियों का पवित्र मंदिर रोमन जाति के अत्याचार से धूल में मिला दिया गया उसी वर्ष कुछ अभिजात् यहूदी आश्रय लेने दक्षिण भारत में आए। हमारी जाति ने उन्हें अपनी छाती से लगाकर शरण दी। ऐसे धर्म में जन्म लेने का मुझे अभिमान है, जिसने पारसी जाति की रक्षा की और उसका पालन अब तक कर रहा है।

इसके बाद स्वामीजी ने शिव महिम्न स्तोत्र के एक श्लोक को उद्धृत करते हुए कहा—जैसे विभिन्न नदियां भिन्न-भिन्न स्थानों से निकलकर समुद्र में मिल जाती है उसी प्रकार हे प्रभो! भिन्न-भिन्न रुचि के अनुसार विभिन्न टेढ़े-मेढ़े अथवा सीधे रास्ते से जाने वाले लोग अंत में तुझ से आकर मिल जाते हैं।

रुचीनां वैचित्र्येदृजुकुटिलनानापथजुषाम।
तृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥7॥

शिव महिम्न स्तोत्र

पुनः गीता को उद्धृत करते हुए कहा—जो कोई मेरी ओर आता है—चाहे किसी रास्ते से ही मैं उसे प्राप्त होता हूं। लोग भिन्न-भिन्न मार्ग द्वारा प्रयत्न करते हुए अंत में मेरी ओर ही आते हैं।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते, तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते, मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ गीता 4/11

इसलिये भारत में उत्पन्न सभी सम्प्रदायों को परस्पर विरोधी न मानकर परस्पर पूरक माना गया है। क्योंकि सभी की रुचि भिन्न-भिन्न है तथा सभी विकास के समान स्तर पर स्थित नहीं हैं। सब का शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास का स्तर एक सा नहीं है। सभी का गन्तव्य रेलवे स्टेशन

पहुंचना है पर सभी के घर अलग-अलग मुहल्लों में स्थित है। तो वहीं से चलकर स्टेशन पहुंचेगा। हिन्दू धर्म में सब को अपना इष्टदेव चुनने की छूट है। यदि पिता आर्यसमाजी होने के कारण निराकार का उपासक है, उसकी पत्नी प्रतिदिन शंकर की पूजा करती है, बेटा रामभक्त है, तो पुत्री कृष्ण भक्त है। कोई शक्ति का उपासक है तो भी घर के इष्टदेव की भिन्नता के कारण कोई विवाद या कलह नहीं होता है। अधिकांश मन्दिरों और आश्रमों में अनेक देवी-देवताओं की प्रतिष्ठा होती है। जीवन के विकास के लिये सम्प्रदाय आवश्यक है पर साम्प्रदायिकता गलत है जो यह मानता है कि मैं ही एकमात्र सत्य हूं। भारत में यह भाव कभी नहीं रहा।

इसलिये स्वामी विवेकानन्दजी कहते हैं—सम्प्रदाय में जन्म लेना ठीक है पर उसी में मरना ठीक नहीं है यानी उससे ऊपर उठ जाना चाहिये धीरे-धीरे स्वाभाविक रूप से।

पंथ तो अनेक हैं पर धर्म तो सारी मानवता का एक है, इसलिये हिन्दू धर्म को मानव धर्म कहा गया है।

धर्म सनातन है। क्योंकि सदा से है और सदा रहने वाला है। पर पंथ एक कालविशेष में व्यक्तिविशेष द्वारा एक देश या स्थानविशेष में स्थापित होता है।

धर्म व्यक्तियों द्वारा स्थापित न होकर व्यक्तियों एवं समाजों की स्थापना का कारण बनता है। पंथ किसी व्यक्ति द्वारा स्थापित होने के कारण संस्थापक के जन्म या प्रेरणा के पूर्व अस्तित्व में नहीं होता। स्वाभाविक रूप से ईसा के माता-पिता एवं पूर्वज ईसाई नहीं हो सकते और मुहम्मद के बाप-दादा मुहम्मदी नहीं थे। इसकी तुलना में हिन्दू धर्म पंथ नहीं धर्म है। यह राम-कृष्ण की कृति नहीं वरन् राम-कृष्ण हिन्दू धर्म की फुलवारी के सुन्दरतम फूल हैं। इसलिये उनके सभी पूर्व पुरुष हिन्दू थे। इस प्रकार हिन्दू धर्म का कोई भी व्यक्ति संस्थापक सिद्ध नहीं होता। इसलिये इसे सनातन धर्म कहा क्योंकि सृष्टि के प्रारम्भ से है और अन्त तक रहने वाला शाश्वत धर्म है। इसको वैदिक धर्म, आर्य धर्म, हिन्दू धर्म भी कहते हैं। चूंकि इस धर्म को वेद ने प्रकाशित किया इसलिये वैदिक धर्म कहलाया। सर्वप्रथम आर्यावर्त्त या हिन्दुस्तान में प्रकट हुआ, आर्यों या हिन्दुओं ने इसको धारण कर इसको सारे विश्व में फैलाया।

पंथ में एक संस्थापक के साथ-साथ एक सर्वमान्य पुस्तक और एक विश्वास अनिवार्य होता है पर, हिन्दू धर्म किसी एक विश्वास और किसी एक पुस्तक से बंधा हुआ नहीं है। हिन्दुओं की स्थिति तो यह है कि—

नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।

ऐसा कोई ऋषि-मुनि नहीं जिसका वचन (एकमात्र) प्रमाण माना जाय। हिन्दुओं के कितने ही अलग-अलग पंथ हैं और उसमें नये पंथ जोड़ने की क्षमता है। गांधीजी ने कहा है कि 'हिन्दू धर्म में जीसस के लिये भी पर्याप्त स्थान है, मुहम्मद, जरतुरत तथा मूसा को भी शामिल करने की पर्याप्त गुंजाइश है। इसमें इतना अवश्य जोड़ा जाना चाहिये कि गुंजाइश सशर्त है कि ये सह-अस्तित्व में विश्वास रखते हों। और उनकी पंथिक मान्यताएं सह-अस्तित्व को स्वीकार नहीं करती।

सर्वोच्च न्यायालय के पूर्व न्यायाधीश श्री गजेन्द्र गड़कर का यह अभिमत है कि 'विश्व के अन्य पंथों के विपरीत हिन्दू धर्म किसी एक पैगम्बर का दावा नहीं करता, और न ही किसी एक देव-देवी की उपासना करता है। इसी प्रकार यह किसी एक दार्शनिक अवधारणा को भी नहीं मानता, उपासना की किन्हीं विशिष्ट पद्धतियों या क्रियाओं को नहीं स्वीकारता। वास्तव में यह किसी पंथ या सम्प्रदाय की संकीर्ण पारम्परिक विशेषताओं को संतुष्ट करता हुआ प्रतीत नहीं होता। इसे एक जीवन पद्धति के रूप में वर्णित किया जा सकता है, और नहीं।'

वस्तुतः हिन्दू धर्म को भारत में उत्पन्न सभी मत-पंथों का समुच्चय या संघ कहा जा सकता है। वास्तव में हिन्दू धर्म को किसी एक परिभाषा में आबद्ध या सीमित नहीं किया जा सकता। जो वेद को मानते हैं वे भी हिन्दू हैं (सनातनी, आर्यसमाजी आदि), जो वेद को नहीं मानते (बौद्ध, जैन आदि) वे भी हिन्दू हैं, जो ईश्वर को नहीं मानते (चार्वाक, सांख्य, मीमांसक आदि) वे भी हिन्दू हैं, जो ईश्वर को मानते हैं वे भी हिन्दू हैं। वास्तव में चार्वाक जैसे नास्तिक शिरोमणि के लिये भी हिन्दू धर्म में स्थान है। पेड़-पौधे को सत्य मानने से लेकर ब्रह्म सत्य जगन्-मिथ्या मानने वाले सभी के लिये स्थान है।

हिन्दू धर्म की सबसे बड़ी विशेषता है कि वह अपने विरोधी में भी सत्य को ढूंढ़ता है। इस संदर्भ में विलियम कॉप का यह विचार विशेष ध्यान देने योग्य है—हिन्दू संस्कृति की अपूर्व शक्ति और दीर्घायु का सर्वप्रमुख कारण प्रकटतः भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों और परस्पर विरोधाभासी आस्थाओं को व्यवस्थित तथा समायोजित करने की इसकी क्षमता है। अनेक रूपी तत्त्वों को समायोजित करने और उन्हें सामाजिक अलग पहचान देने की इसकी योग्यता सम्भवतः मानव इतिहास में अभूतपूर्व है।

संसार में दो प्रकार की विचार परम्पराएं देखने को मिलती हैं—एक मुक्त विचारों की परम्परा और दूसरी बद्ध-विचारों की परम्परा। भारत में मुक्त विचारों की परम्परा पाते हैं। भारत ने सत्य को किसी परिभाषा में आबद्ध नहीं किया। ऋषियों ने कहा—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इसलिये वेद ने सत्य की व्याख्या नेति-

नेति कहकर की। अर्थात् हमने जिस ब्रह्म का बखान किया है वो वाणी तक सीमित नहीं है। वाणी के बंधन में नहीं है। वाणी के कथन में आ ही नहीं सकता और जितना हमने वर्णन किया है उतना मात्र ही नहीं है। मानव के पास मन, वाणी बुद्धि के अतिरिक्त और कोई भाव प्रकाशन का साधन नहीं है। इसलिये बाध्य होकर मानव को वाणी से बखान करना पड़ा। पर आदि शंकराचार्य जैसे उच्च दार्शनिकों ने परम तत्त्व के कोई विधायक गुण नहीं बखान किये। क्योंकि उससे परम तत्त्व गुणों में सीमित हो जाता है, गुणों में बंध जाता है। उन्होंने निषेधात्मक गुण बताये ताकि मनुष्य को समझ में भी आ जाये और गुण और वाणी का बंधन भी न रहे। अर्थात् अजर-अमर, अक्षय, अव्यय, अक्षर, अगोचर, अवाङ्मनसगोचर, अद्वैत, अद्वय, अद्वितीय, अशेष, निराकार, निर्विकार, निर्गुण, निरुपाधि, अविभक्त, निष्कलंक, अखण्ड, अच्छेद्य, अभेद्य, अदृश्य आदि। गुरु नानकदेव कहते हैं—

कथना कथी ना आवे तोरि।
कथी कथी कथी कोटि-कोटि-कोटि।

अर्थात् करोड़ों-करोड़ों जुबानों से करोड़ों युगों तक उसका कथन करता रहे फिर भी उसका कोई पार नहीं पा सकता। रामकृष्ण परमहंस कहते हैं—सब का झूठा किया जा सका है, पर ब्रह्म को आज तक कोई झूठा नहीं कर सका। गांधीजी कहते हैं—हिन्दुत्व सत्य की सतत साधना है। ऋषि अरविन्द घोष कहते हैं—सनातन भारत निर्जीव नहीं है और न उसने अपने अन्तिम रचनात्मक शब्द ही कहे हैं। वह जीवन्त है और उसे अपने लिये तथा मानव जाति के लिये अभी कुछ करना शेष है। सत्य के अनेक या अनन्त पक्ष होते हैं। उसे कोई एक साथ नहीं जान सकता। इसलिये अनेकान्तवाद (स्याद्वाद) के नाम से एक दार्शनिक धारा ही चल पड़ी है। वेद में कहा—सत्य तो एक है पर विद्वान लोग उसकी नाना-नामरूपों में व्याख्या करते हैं। इस प्रकार डॉ. राधाकृष्णन् के शब्दों में कह सकते हैं कि हिन्दुत्व अध्यात्म क्षेत्र की खुली प्रयोगशाला है, जो कभी अवरुद्ध या बंद नहीं हुई। इसलिये षड्दर्शनों की धारा साथ-साथ चली है। आस्तिक-नास्तिक सभी प्रकार के दर्शनों का सह-अस्तित्व रहा है। 'वादे वादे जायते इति तत्त्वबोधा' की दृष्टि रही है, जीओ और जीने दो का भाव रहा है। ईसाइयों की प्रयोगशाला ईसा के साथ ही बंद हो गई। इस्लाम की प्रयोगशाला मुहम्मद के साथ बंद हो गयी। इसलिये यहां न किसी को सुकरात की तरह विष का प्याला पीना पड़ा। न अरस्तू की तरह निर्वासित जीवन जीना पड़ा। न ईसा की तरह किसी को सूली पर लटकना पड़ा, न गैलीलियों की तरह जेल में सड़ना पड़ा और न जीनों की तरह घर समेत जलना पड़ा। न किन्ही पुस्तकालयों, देवालयों को आग दिखानी पड़ी। भारत ने कभी अपने विचारों को थोपा नहीं किसी भी क्षेत्र में।

पर इसके विपरीत पश्चिम में बद्ध विचारों की परम्परा है। इसलिये ईसाइयत की प्रयोगशाला ईसाइयत के साथ बंद हो गई। इस्लाम का प्रयोग मुहम्मद के साथ बंद हो गया। उनकी दृष्टि यह रही है कि हमने जितना जाना उतना ही सत्य है और बाकी सब असत्य है, कुफ्र है, नष्ट होने योग्य है। सत्य को उन्होंने एक सीमा में आबद्ध कर दिया। उसके बाहर जो कुछ भी है वह सब असत्य है। पश्चिम की यह दृष्टि आज तक बनी हुई है। सभी क्षेत्रों में अपने विचारों को थोपने का प्रयास किया आकर्षक सिद्धान्तों के नाम पर यथा वैश्वीकरण, उदारीकरण आदि। इन आवरणों के नीचे इनकी गर्हित स्वार्थपूर्ति की दृष्टि रहती है। चाहे वे आर्थिक जगत्, कृषि जगत् के सम्बन्ध में विचार हों चाहे इतिहास के सम्बन्ध में विचार हों। चाहे भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में विचार हों। चाहे धर्म, दर्शन, संस्कृति, शिक्षा, संस्कार, भाषा आदि के सम्बन्ध में विचार हों।

यही कारण है कि जब सुकरात ने ग्रीक परम्परा से भिन्न विचार व्यक्त किये तो उसे जहर का प्याला पीना पड़ा। अरस्तू को अपने देश से निष्कासित होकर निर्जन टापू में अपना अन्तिम जीवन बिताना पड़ा। ईसा को यहूदी परम्परा से किंचित् भिन्न विचार व्यक्त करने के कारण सूली पर लटकना पड़ा। ईसाइयों ने यहूदियों को ईसा का हत्यारा घोषित कर उन पर हर प्रकार के अत्याचार किये। उनको अपने देश से निष्कासित कर दिया। गैलीलियों को ईसाई परम्परा से भिन्न विचार व्यक्त करने के कारण जेल में सड़ना पड़ा और अपनी स्थापना को वापस लेना पड़ा। कोपरनिकस ने पादरियों के भय से अपने जीवनकाल में अपने विचारों को प्रकाशित नहीं किया। दार्शनिक जीनों को घर समेत जलना पड़ा, पुस्तकालयों को जलना पड़ा और देवालयों, तीर्थालयों को ध्वस्त होना पड़ा। ऐसे ही भयंकर जुर्म इस्लाम ने किये। या तो कुरान स्वीकारो या मौत। मौत भी बड़े निर्मम ढंग से—पानी में उबाला गया, तेल में पकोड़ों की तरह भूना गया। आरों से चिरवाया, जीवित दीवाल में चुनवाया। नारी जाति का बहुत ही अपमान और छोटी बच्चियों से वृद्धा तक सामूहिक दुष्कर्म किया। सब प्रकार के दुष्कर्म, पापाचार, व्यभिचार किये अपने पंथ (मजहब) के नाम पर।

हिन्दू विविधता में एकता-एकात्मता को ढूंढ़ता है। विरोधी में सत्य को ढूंढ़ता है, बुराई में भी अच्छाई ढूंढ़ता है। खोजता है। पर ये अच्छाई में भी बुराई ढूंढ़ते हैं, सत्य को तोड़-मरोड़कर असत्य प्रमाणित करने की चेष्टा की जाती है। इस मौलिक भेद को सदा ध्यान में रखा जाना चाहिये।

हमारे यहां धर्म न आत्मपीड़क बना न परपीड़क बना वरन् आत्मसेवक, जन-जन का सेवक, विश्व का सेवक बना। हिन्दू धर्म ने वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना से, सर्वे सन्तु सुखीनः की भावना से, विश्व मंगल की भावना से बिना किसी देश

की स्वाधीनता छीने—बिना किसी देश के अर्थ पर डाका डाले, बिना किसी मां-बहिन के शील पर आघात किये, बिना सांस्कृतिक मूल्यों को तहस-नहस किये अपनी श्रेष्ठताओं का दान, धर्म-दर्शन, सभ्यता-संस्कृति, कला-कौशल का दान अपने निष्कलंक चरित्र और निर्मल ज्ञान के द्वारा दिया।

हमारे यहां धार्मिक राज्य (रामराज्य) रहा मजहबी राज्य कभी नहीं। धार्मिक राज्य का तात्पर्य न्याय के राज्य से है, कानून के राज्य से है। Law and order में सभी को समान दृष्टि से देखा जाता है। पंथ या पूजा पद्धति के आधार पर कोई भेदभाव नहीं था। सभी मतों को समान संरक्षण और आदर प्राप्त था। हमारे यहां राज्य सदैव धर्मसापेक्ष व पंथनिरपेक्ष रहा है अतः यहां सैक्यूलर शब्द की कभी आवश्यकता नहीं रही। सैक्यूलर शब्द भारत की नहीं ईसाइयत की देन है। सारे यूरोप के इतिहास में चर्च और स्टेट का, धार्मिक शासन और राज्य शासन में परस्पर स्पर्धा, संघर्ष चलता रहा। राज्य शासन की चेष्टा रही धर्म शासन उसके अधीन रहे और धर्म शासन राज्य को अपने अधीन रखकर चलना चाहता था। इसलिये चर्च और सरकार में परस्पर संघर्ष चलते रहते थे और चर्च खुलकर राजनीतिक शक्ति संतुलन, स्पर्धा संघर्ष, षड्यंत्र, हत्या, रक्तपात, सामूहिक हत्याकांड, अग्नि होम आदि का सहारा लेता था। इन खूनी संघर्षों से उपराम होने के लिये सैक्यूलर शब्द अस्तित्व में आया कि राज्यसत्ता और धर्मसत्ता (चर्च) दोनों एक-दूसरे में दखलंदाजी, हस्तक्षेप नहीं करेंगे और राज्य किसी एक पंथ को नहीं सभी पंथों को समान मान्यता, सम्मान, सुरक्षा और सुविधा देगा। पंथ की भिन्नता के आधार पर राज्य उनसे कोई भेदभाव नहीं करेगा। इसी दृष्टि से सैक्यूलर शब्द की उत्पत्ति हुई और यही इसका भाव था।

भारत में कभी संगठित चर्च की तरह न कोई संगठित धर्म संस्था थी। धर्म व पंथ यहां सदैव व्यक्तिगत मामला रहा है। अतः यहां न कभी धर्म शासन व राज्य शासन में संघर्ष हुआ और न राज्यों ने पंथों के आधार पर कभी कोई भेदभाव ही किया है। भारतीय समाज-राज्य धर्मसापेक्ष व पंथनिरपेक्ष रहा है। यह तो सेमिटिक परम्परा की देन रही है कि वे अपने से किंचित् भिन्न मत को सहते नहीं। न उनके God को और न उनकी पंथ भिन्नता को स्वीकारते हैं। इस्लाम के भारत में प्रवेश के पूर्व इसकी कोई कल्पना भी नहीं थी। पर भारत में उलटी गंगा बहाई गई है। सेमिटिक परम्परा (इस्लाम-ईसाइयत) को सैक्यूलर (पंथनिरपेक्षता) की शिक्षा दी जानी चाहिये थी, वे उससे मुक्त हैं। और जो हिन्दू सदा से सैक्यूलर है, पंथनिरपेक्ष है, उन्हें छोटा-तुच्छ, साम्प्रदायिक बताकर सैक्यूलर की शिक्षा दी जा रही है। हमारा संविधान हिन्दू धर्मनिरपेक्ष और मुस्लिम-ईसाई धर्मसापेक्ष बना हुआ है। यह घोर विडम्बना की स्थिति बनी हुई है।

दुर्भाग्य से अंग्रेजों की चाल और लो. तिलक के पश्चात् गलत नेतृत्व (यानी मुस्लिम तोषण को प्रश्रय देना) के कारण हमने अपने ही हिन्दू धर्म शब्द को भी ईसाइयत एवं इस्लाम के समकक्ष ला दिया। यहीं जाकर पतन नहीं रुका। ईसाई एवं इस्लाम का तत्त्वज्ञान बड़ा दूषित, विकृति और पैशाचिकता को लिये हुए, उनकी दृष्टि बड़ी संकुचित, अनुदार, इनका सारा इतिहास रक्तरंजित, मानवता को रक्त से नहलाने वाला होने से बड़ा कलंकित, आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से अमेल, चरित्र बड़ा संकुचित, अनुदार, घृणित फिर भी उन्हें अपने को इस्लाम एवं ईसाई कहलाने में गर्व की अनुभूति होती है। और हिन्दुओं का तत्त्वज्ञान सर्वश्रेष्ठ, ज्ञान-विज्ञान सम्मत, विश्व मनीषियों द्वारा प्रशंसित, विश्वधर्म होने योग्य, दृष्टि बड़ी उदार, इतिहास की दृष्टि से बड़े ही उज्ज्वल, चरित्र में महान्, यशस्वी होने के बाद भी अपने को हिन्दू कहलाने में लज्जाबोध, गधा-घोड़ा कहलाने तक को राजी। स्पष्ट है इस्लाम और ईसाइयत संसार के निकृष्टतम् होने के बावजूद भी उन्हें स्वयं को मुसलमान एवं ईसाई कहलाने में गौरव बोध और हिन्दू संसार में अब तक सर्वश्रेष्ठ होने पर भी हिन्दू कहलाने में लज्जाबोध, संकोच का अनुभव यह उलटी गंगा अंग्रेजों की चाल, मैकाले की शिक्षा पद्धति एवं कांग्रेस की मुस्लिम ईसाई तोषण नीति के कारण आज तक कायम है।

हमारा धार्मिक आदर्श सर्वधर्म समभाव है। मनुष्य अपनी चेतना समष्टि चेतना से जोड़ सके, पूर्णता तक, आनन्द तक ले जा सके; इसके लिये अनेकों उपासना पद्धतियों, पूजा पद्धतियों, अनेक देव विग्रह, देवीविग्रह को स्वीकार किया गया है। मानव, अनन्तपथ का यात्री है। सब का स्वभाव एवं रुचियां भिन्न हैं। सभी के विकास का स्तर भी भिन्न है। अतः सब के लिये एक ही उपासना पद्धति, पूजा पद्धति, विश्वास पद्धति उपयुक्त नहीं हो सकती। इसी दृष्टि से नाना प्रकार की उपासना पद्धतियां अपने देश में और सारे विश्व में प्रचलित रही हैं सेमिटिक परम्परा के पूर्व तक। इनमें परस्पर में सामंजस्य था, परस्पर पूरक थी, सहअस्तित्व था, जीओ और जीने दो का भाव था। ये सम्पूर्ण विश्व को एक परिवार मानती थी, धरती को मां मानती थी। प्रकृति पूजक थे, पर्यावरण के साथ सुसंगत थे जिसमें देवविग्रह पुरुष का भी था, स्त्री का भी था। ईसाइयत के पूर्व यूरोप में और इस्लाम के पूर्व अरब में अनेक देव-विग्रहों का अस्तित्व था। सारे यूरोप में अनेक देवी-देवताओं के साथ सूर्य पूजा प्रचलित थी। इस्लाम के पूर्व अरब में 360 देव-देवी विग्रह थे। सब में परस्पर सामंजस्य था।

इस सर्वधर्म समभाव में बाधा उपस्थित हुई सेमिटिक परम्परा के उदय से जिनमें तीन पंथ आते हैं—यहूदी, ईसाई और इस्लाम। यहूदी अपने ही देश से निष्कासित हो जाने और सारी दुनिया में बिखर जाने से विश्व को त्रास

देने का कारण नहीं बना। समस्या उत्पन्न हुई ईसाई और इस्लाम से। जो एक ही विश्वास, एक ही ग्रंथ, इकलौता ईश्वर-पुत्र, एक ही अन्तिम पैगम्बर को स्वीकारते हैं।

जो इसे नहीं स्वीकारता वे सब कुफ्र हैं, काफिर हैं, हिडेन हैं, प्रकृति पूजक हैं, पैगन हैं, झूठे हैं, शैतान से प्रेरित हैं। जिसका एक ही उचित प्रायश्चित्त है इहलोक में निर्मम ढंग से वध। परलोक में अनन्त नरक की आग में जलना ही उनकी नियति है। ये मानव समाज को दो भागों में बांट देते हैं—विश्वासी और अविश्वासी। अविश्वासी को जीने का अधिकार नहीं है। अविश्वासी के जान-माल, स्त्री आदि सब पर विश्वासी का अधिकार है। इस प्रकार सेमिटिक परम्परा अविश्वासियों के प्रति जहर उगलती है, द्वेष फैलाती है। उनका जान-माल छीन लेने के लिये सदा संघर्षरत रहती है। तो क्या ऐसे विष धर्म या उपासना पद्धति को पंथ की श्रेणी में लिया जा सकता है। जो व्यक्ति की चेतना को शुद्ध करे, परिष्कृत करे, व्यापक बनाए, उसमें सद्गुणों का विकास करे, चरित्र का विकास करे, उसे निर्मल बनाए। उसे ही धर्म-मत, पंथ या उपासना पद्धति कहा जा सकता है। पर जो अन्यों के प्रति द्वेष फैलाए, जो चेतना को कलुषित करे, संकुचित करे, तुच्छता में, पशुता में, बर्बरता में, हिंसा में, बलात्कार में, व्यभिचार में, गुण्डई में, असुरता में, पैशाचिकता में ले जाए क्या उसे धर्म, मत, पंथ कहा जा सकता है? जिनकी जीव, जगत्, ईश्वर, नारी व पर्यावरण के प्रति धारणाएं विकृतियों को लिये हुए है, जिनका ईश्वर ही स्वयं ईर्ष्या विदग्ध है, हिंसापरायण है, जो दूसरे के उपास्यों को सहन नहीं कर सकता। जिसकी मुंहलगी जातियां, देश, उम्मा, चर्च हैं और उनके प्रति वचनबद्धता है, समझौता है और जो अन्यों पर गजब का कोप बरसाने वाला है तो क्या उसे ईश्वर कहा जा सकता है? जो स्वयं मानवोचित भावों, विचारों, त्रुटियों और समस्त दूषणों से ग्रस्त है। जो भीषण रूप से राग-द्वेष, ईर्ष्या से ग्रसित एक स्वेच्छाचारी तानाशाही शासक की तरह है जिसे गांधीजी King Like God कहते हैं जो अपने हित में सारे जगत् का शोषण करने, पर्यावरण को तहस-नहस करने की स्वीकृति देता है उसे असुरों का, पापियों-बलात्कारियों का धर्म तो कहा जा सकता है पर मानवों या देवों का तो कथमपि नहीं। जो अकारण सारे संसार को त्रास देने वाले हैं। भर्तृहरि ने अपने 'नीतिशतक' में व्यक्तियों की श्रेणी की सुन्दर चर्चा की है—

एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान्परित्यज्य ये
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाऽविरोधेन ये।
तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये
तु ध्नन्ति निरर्थकं परहितं त के न जानीमहे।।

एक तो सत्पुरुष होते हैं, जो अपना स्वार्थ तजकर दूसरों के हित में लगे होते हैं, दूसरी कोटि सामान्य पुरुषों की है, जो वहीं तक दूसरों की भलाई करते हैं जब तक उनके अपने स्वार्थ में धक्का नहीं लगता; तीसरी कोटि में मानव राक्षस आते हैं जो अपना स्वार्थ साधने हेतु दूसरों का गला घोंटने में भी नहीं हिचकते, पर जो अकारण ही दूसरों के हित पर कुठाराघात किया करते हैं वे किस कोटि में रखे जाएं, मैं नहीं जानता।

इस्लाम और ईसाइयत ने भारत सहित सारे विश्व को अकारण त्रास दिया है और आज भी दे रहे हैं।

डॉ. पितृम ए. सोरोकिन (डायरेक्टर हार्वर्ड सेन्टर इन क्रिएटिव अल्ट्रइज्म) अपनी पुस्तक—रीकन्स्ट्रक्शन आफ ह्यूमैनिटी (पृष्ठ 47) में ईसाई मिशनरियों के कार्यों का मूल्यांकन करते हुए लिखते हैं—'विगत कुछ शताब्दियों में मानव समाज का वह वर्ग जो सर्वाधिक युद्धपिपासु, सर्वाधिक आक्रामक, सर्वाधिक बलात्कार परायण तथा सर्वाधिक सत्तामदोन्मत्त रहा है, वह निश्चय ही पाश्चात्य ईसाई जगत् है। इन शताब्दियों में पाश्चात्य ईसाइयत ने सभी दूसरे महाद्वीपों पर आक्रमण किया है। इनकी सेनाओं ने जिनके पीछे-पीछे इनके पादरी और व्यापारी चलते हैं, अधिकांश गैर ईसाई राष्ट्रों को गुलाम बनाकर लूटा-खसोटा है। पूर्णतया अशिक्षित आदिम जातियों से आरम्भ कर गैर ईसाई राष्ट्रों तक के प्रति उनका यह अत्याचार रहा है। आदिम अमरीकावासी, अफ्रीकावासी, आस्ट्रेलियावासी तथा एशियाई जनसमूह—सभी इस विचित्र प्रकार के ईसाई प्रेम के शिकार हुए हैं, जिनके सामान्य लक्षण रहे हैं—निर्दयतापूर्ण सर्वनाश, पराधीनता, बलात्कार, सांस्कृतिक जीवनमूल्यों का क्षरण, सामाजिक संस्थाओं का तथा ईसाई प्रेम के शिकार हुए व्यक्तियों की जीवन पद्धति का विनाश, शराबखोरी, यौन रोगों व व्यावसायिक हृदयहीनता आदि सामाजिक पापों का प्रचार, आदि-आदि।

इससे कम दर्दनाक स्थिति इस्लाम की नहीं है। सेमिटिक परम्परा के इसी स्वरूप को देखकर पश्चिम के श्रेष्ठ मनीषी मार्क्स, नीत्शे, बर्ट्रेंड रसेल, फयूरबाग आदि नास्तिक बन गये। इन्होंने जो धर्म की आलोचना की है वह सेमिटिक परम्परा की ही की है।

उन्हें धर्म व ईश्वर के नाम से ही अरुचि (Alergy) हो गई। और वास्तव में सेमिटिक परम्परा (ईसाई व इस्लाम) का स्वरूप ही ऐसा ही है। इनकी जीव-जगत्-ईश्वर, नारी, पर्यावरण की अवधारणायें त्रुटिपूर्ण हैं जो हमें मनुष्यत्व से च्युतकर पशुत्व, पशुत्व से पिशाचत्व में ले जाती है। हिंसक पशु भी दो कारणों से ही हिंसा करता है या तो भूख लगी हो या

उसके प्राणों पर संकट हो। पर पिशाच तो अकारण ही त्रास देता है और उसे उसी में आनन्द आता है। यही कारण है कि जब तक आप हम हिन्दू हैं तब तक शान्त, शिष्ट, अहिंसामय, सारे चराचर को अपने अंक में स्थान देने वाले, राम-कृष्ण के पुजारी, गोपूजक, देश को माता मानने वाले होते हैं और जैसे ही मुसलमान या ईसाई बनते हैं तब राम-कृष्ण के हत्यारे, गोभक्षक, भारतमाता डायन लगती है, अलगाववादी-आतंकवादी, हिंसावादी और चराचर को त्रास देने वाले बन जाते हैं। स्पष्ट है इनकी संस्कार परम्परा और विचार परम्परा त्रुटिपूर्ण होने का यह स्वाभाविक परिणाम है। अतः इस्लाम व ईसाइयत को धर्म-या पंथ कहना धर्म-पंथ का अपमान है। ये धर्म या पंथ नहीं, मजहब की आड़ में साम्राज्य विस्तार, अपने बाजार और उपनिवेश स्थापित करने के राजनैतिक षड्यंत्र हैं।

जैसे-जैसे ईसाइयत में आत्ममंथन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई प्रबुद्ध वर्ग उसे छोड़ते जा रहे हैं। क्योंकि इनके आधार में न दर्शन है, न बुद्धि सम्मत है, न आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के साथ संगत है। पर्यावरण विरोधी, नारी विरोधी केवल कपोल-कल्पना पर आधारित हैं। जिनका चरित्र कलंकित, इतिहास कलंकित, किसी भी कसौटी पर खरा नहीं उतरने के कारण वह स्वतः त्याज्य बनता जा रहा है। उनके चर्च खाली पड़ रहे हैं। भारत में तो ईसाई मिशनरी संविधान में प्रदत्त सुविधाओं का दुरुपयोग करके यूरोप का बाजार, यूरोप का उपनिवेश, उनको यूरोप का मानसिक गुलाम बनाने के लिये कार्यरत है। और इस्लाम में अभी भी इतना उन्माद है, कट्टरता है कि आत्ममंथन की प्रक्रिया प्रारम्भ होने के पूर्व मौत के फतवे जारी हो जाते हैं। पर जब भी इस्लाम में आत्ममंथन की प्रक्रिया प्रारम्भ होगी। इस्लाम भी अपने आपको बचा नहीं पाएगा।

जैसे-जैसे विश्व के प्रबुद्ध वर्ग हिन्दू धर्म से परिचित होते जा रहे हैं वैसे-वैसे उनका हिन्दू धर्म के प्रति आकर्षण बढ़ता जा रहा है और इसे ही भावी विश्व धर्म के रूप में देख रहे हैं—इसके लिये दो उदाहरण पर्याप्त होंगे–ब्रिटिश इतिहासकार अरनॉल्ड टायनबी कहता है 'विज्ञान और प्रविधि के विकास के साथ, हो सकता है कि बीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण तक सारा संसार अमेरिका के प्रभाव क्षेत्र में आ जाए। किन्तु इक्कीसवी शती में जब विज्ञान का स्थान अध्यात्म ले लेगा और तकनीक का स्थान धर्म लेगा तब भारत ही सारी मानव जाति का आध्यात्मिक गुरु होगा।

अमरीकन इतिहासकार विल डूरेन्ट Story of civilization, story of philosophy में कहते हैं—हे भारत! इसके पहले कि पश्चिम अपनी घोर नास्तिक भोगवादी सभ्यता से निराश, शान्ति के लिये तरसता हुआ अति व्याकुल तुम्हारी शरण में आवे, कहीं भूल से अपनी लम्बी राजनीतिक पराधीनता के लिये तू अपने श्रेष्ठ अध्यात्म को ही दोषी मानकर अपना घर मत फूंक डालना।

इस प्रकार स्पष्ट है कि पुनः वैदिक सनातन धर्म को स्वीकार कर सारी दुनिया में सौख्य-शांति का साम्राज्य स्थापित हो सकता है। वैदिक सनातन धर्म वह अमृत धर्म है जिसने किसी का कुछ न छीनते हुए, सभी की श्रेष्ठ बातों को स्वीकारते हुए उसे और भी श्रेष्ठता, सर्वोच्च ऊंचाई व पूर्णता पर ले जाने का प्रयास किया। सेमिटिक परम्परा विषधर्म है, और यह जब तक है तब तक संसार में सुख-शांति का साम्राज्य स्थापित नहीं हो सकता। ऐसे विषधर्म को (सेमिटिक धर्म को) जल्दी तिलांजलि देकर और पुनः वैदिक धर्म स्वीकार कर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना को, सर्वे सन्तु सुखीनः की भावना को, सर्वधर्म समभाव की भावना को साकार किया जा सकता है।

यहां बर्टेंड रसेल की चर्चा करना अप्रासंगिक न होगा। उन्होंने एक पुस्तक लिखी 'Why I am not christian'। वास्तव में ईसाइयत एकमात्र सच्चा Religion है, और Personal God की अवधारणा तथा जीव, जगत्, नारी, पर्यावरण के प्रति त्रुटिपूर्ण, विकृतिपूर्ण पैशाचिकता को लिए अवधारणा ने लोगों के जीवन को नरक बना दिया था। उस समय यूरोप के मन में एक समीकरण बैठा हुआ था। नीतिशास्त्र का अर्थ है Religion; Religion का अर्थ है चर्च; चर्च का अर्थ है एक शोषक शक्ति जिसका अर्थ यह हुआ कि इसके विरुद्ध विद्रोह किए बिना अंधश्रद्धा में जकड़े मानव-समाज को मुक्ति प्राप्त नहीं होगी। इसलिए हर प्रबुद्ध व्यक्ति यूरोप में ईसाइयत के विरोधी हुए यथा जॉनलेकी, चाहे जानलॉक, चाहे आइंस्टाइन, कार्ल जुंग, सिगमंड फ्रायड, नीत्शे, थियोडोर, एडोलमो, ए.जे. अय्यर, अन्ना, अरिन्ट, मैक्स प्लेंक, हुस्सर्व, मैक्समूलर, फयूरबाग आदि-आदि। पर भारत में इस तरह संगठित धर्म, चर्चशाही, पुरोहितशाही कभी नहीं थी और न है। सन् 1950-52 में डॉ. राधाकृष्णन् और रसेल में एक रेडियो वार्ता हुई। पहले रसेल ने 'मैं धर्म को क्यों नहीं स्वीकारता' पर अपनी वार्ता प्रस्तुत की फिर डॉ. राधाकृष्णन् ने हिन्दू धर्म को परिभाषित कर उसकी व्याख्या प्रस्तुत की। उस वार्ता को सुनकर रसेल कहते हैं—धर्म का स्वरूप यह है तो मुझे भी धर्म मान्य है।

और बड़े मजे की बात है। जिन्होंने भी धर्म का विरोध किया, धर्म को बहिष्कृत करने का प्रयास किया वे धर्म को बहिष्कृत न कर सके परन्तु एक नीच कोटि के धर्म के उपासक हो गए, असुरता में, पशुता में, पिशाचत्व में चले गए। प्राचीन उदाहरण देखना हो तो पुराणों में वर्णित असुरों के जीवन को देख लेवें यथा—रावण, कुम्भकरण, हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष, बेंन राजा, दुर्योधन आदि को या लोक कल्याण के नाम पर चलने वाली साम्यवादी धारायें रूस और चीन को देख लेवें। लेनिन, स्टालिन आदि ने जनक्रान्ति के नाम पर करोड़ से ऊपर लोगों की बलि चढ़ा दी वहीं चीन के माओ ने किया और दोनों ने ही अपने आस-पास के देशों को साम्यवाद प्रसार के नाम पर पिछलग्गू राष्ट्र खड़े किए और उनका निर्मम शोषण किया। ऐसे ही आधुनिक मनोविज्ञान के जनक फ्रायड को लेवें या उसके पदचिह्नों पर चलने वाले आधुनिक मनोवैज्ञानिकों को देख लेवें या प्रगतिशील कम्युनिस्टवादी साहित्यकारों को लेवें, ये प्रगति के नाम पर धर्म की परम्परागत श्रेष्ठ मान्यताओं के अनुशासन को बाद देकर मानव की निम्न प्रवृत्तियों को खुली छूट दे रहे हैं, उसकी प्रशस्ति गा रहे हैं। उन्हें निम्नकोटि के धर्म का उपासक बनाकर पतन के गर्त में डाल रहे हैं। ये सब धर्म को बहिष्कृत न कर सके वरन् स्वयं एक निम्नकोटि के धर्म के उपासक हो गये। रूस के लियो टालस्टाय ने अपनी पुस्तक What is Religion में इसका स्पष्ट प्रतिपादन किया है।

रोमां रोलां जो शुरुआती जीवन में मार्क्सवादी था, मार्क्सवाद से मोह भंग होने पर ईसाइयत की ओर झुका, वहाँ भी अपने जीवन की उलझनों का समाधान न पाकर भारत की ओर झुका और वहाँ समाधान पाकर कहता है—मैंने यूरोप और एशिया के सभी धर्मों का अध्ययन किया है, परन्तु मुझे उन सबमें हिन्दू धर्म ही सर्वश्रेष्ठ दिखाई देता है...मेरा विश्वास है कि इसके सामने एक दिन समस्त जगत् को सिर झुकाना पड़ेगा।

अन्यत्र कहता है—अगर संसार की सतह पर कोई ऐसा देश है, जहाँ जीवित लोगों के सभी स्वप्नों को, उस प्राचीन काल से स्थान मिला है जबसे मनुष्य ने अस्तित्व का स्वप्न आरम्भ किया, तो वह देश हिन्दुस्तान है।

हिन्दूधर्म की विशेषताएं

1. हिन्दू धर्म ईश्वर को सर्वव्यापी मानता है। अन्य धर्म मानता है कि ईश्वर केवल बहिश्त या हैवन में रहते हैं।

2. हिन्दूधर्म मानता है कि ईश्वर आत्म के रूप में हरेक जीव के हृदय में है। अन्य धर्म मानते हैं कि ईश्वर किसी के अंदर नहीं रहते। मनुष्येतर प्राणियों में तो आत्मा ही नहीं है।

3. हिन्दूधर्म जन्मान्तर को मानता है। अन्य धर्म नहीं मानते।

4. हिन्दूधर्म के अनुसार अपने सुख दु:ख के लिए जीव के पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मफल ही जिम्मेदार हैं।

अन्य धर्म मानते हैं कि ईश्वर ने अकारण ही केवल अपने मनोविनोद के लिए जीवों को सुखी-दु:खी बना दिया।

5. हिन्दूधर्म गो हत्या को महापाप मानता है अन्य धर्म उसे पुण्य मानते हैं।

6. हिन्दूधर्म मोक्षप्राप्ति को ही जीवन का लक्ष्य मानता है, स्वर्ग को नहीं। अन्य धर्म केवल मात्र स्वर्ग के सुख को ही परम पुरुषार्थ मानते हैं।

7. हिन्दूधर्म के अनुसार मृत्यु के साथ-साथ ही जीव अपने-अपने कर्मानुसार स्वर्ग, नरक या मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। अन्य धर्म मानता है कि मृत्यु के बाद जीव यावत्चन्द्रदिवाकरौ कब्र में पड़ा रहता है।

8. हिन्दूधर्म मानता है ईश्वर की इच्छामात्र से ही जगत् की सृष्टि हुई है। अन्य धर्म मानता है पहले पृथ्वी की सृष्टि की उसके तीन दिन बाद सूर्य की सृष्टि की है। सिवाय सूर्य के दिन-रात कैसे बने?

9. हिन्दूधर्म में आत्मा को शुद्ध माना गया है। पाप-पुण्य मन का विषय है।

अन्य धर्म जीवात्मा को जन्म से ही पापी मानता है।

10. हिन्दूधर्म के अनुसार ध्यानावस्थित अवस्था में ईश्वर का दर्शन करके मुक्त हो सकते हैं। ईश्वर स्वयं ही भक्त का उद्धार करते हैं। अन्य धर्म में खुदा को कोई नहीं देखता। पैगम्बर या ईश्वर के पुत्र के पास क्षमा मांगने पर वे ईश्वर से कह कर क्षमा दिलाएंगे। वहां भक्त से भगवान् का सीधा संबध नहीं है।

11. हिन्दूधर्म मानता है कि भक्तों की रक्षा, दुष्कृतकारी का विनाश एवं धर्म की पुन: प्रतिष्ठा के लिए भगवान् स्वयं अवतार लेकर प्रगट होते हैं। किन्तु अन्य धर्म ऐसा मानते हैं कि ईश्वर का अवतार नहीं होता उनके पुत्र या पैगंबर आते हैं।

12. हिन्दूधर्म के अनुसार ईश्वर प्रत्येक जीव के परम पिता हैं और जीव उनके पुत्र हैं। किन्तु अन्य धर्म मानते हैं कि केवल यीशु ही ईश्वर का पुत्र है अन्य कोई नहीं।

13. हिन्दूधर्म का मत है जो पुण्य करेगा वही स्वर्ग में जायेगा, जो पाप करेगा वह नरक में जायेगा। अन्य धर्म का मत है कि जो पैगंबर को मानेगा वह उनकी सिफारिश से स्वर्ग में जायेगा और जो ईश्वर के पुत्र को नहीं मानेगा पुण्यकर्म करने पर भी वह नरक में जायेगा। आज से 2014 साल पहले बने हुए कायदे से करोड़ों वर्ष पहले जन्मे और मरे जीवों का विचार कैसे खुदा कर पाएंगे?

14. हिन्दूधर्म के अनुसार प्राणीहत्या पाप है। क्षत्रियों के लिए युद्ध करना पाप नहीं। सर्वसाधारण के लिए आत्मरक्षा के लिए आततायी को मारना पाप नहीं।

अन्य धर्म में काफिर एवं हिडेनों को मारने से पाप नहीं।

15. हिन्दूधर्म में प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्य। अन्य धर्मों में ब्रह्मचर्य पालन का कोई आदेश नहीं है।

16. हिन्दूधर्म सर्वेश्वरवाद को मानता है। ईश्वर में सब है और सब में ईश्वर है ऐसा मानता है।

किन्तु अन्य धर्म एक ईश्वर को मानते हैं और वे सर्वत्र नहीं हैं।

17. हिन्दूधर्म देवताओं का पूजन करता है किन्तु ईश्वर के रूप में नहीं करता केवल भौतिक पदार्थ की प्राप्ति के लिए करता है।

अन्य धर्म भी देवताओं के स्थान पर फरिश्ता, जिब्राइल एडोल्स वगैरह मानते हैं।

18. हिन्दूधर्म मूर्ति के माध्यम से ईश्वर की पूजा करता है। किन्तु अन्य धर्म मक्का के काबा केवलेश्वर (मक्केश्वर महादेव) को खुदा का स्वरूप मानकर पूजा करते हैं।

'हिन्दुत्व भिन्न-भिन्न मत-विश्वासों समस्वर संगीत है, एक विविध रंगों के फूलों का गुलदस्ता है। अनन्त विविधरूपता के उपरान्त भी हिन्दुत्व एक है और उसने युगों से भारत को एक बनाये रखा है। हिन्दू भारत में धार्मिक एकता सदा से लेकर अभी तक उतनी ही सुदृढ़ है, जितनी की अन्य देशों में राजनीतिक एकता। हिन्दुस्तान के एक छोर से दूसरे छोर तक, उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिम में इम्फाल से श्रीनगर तक और केदारनाथ से कन्याकुमारी तक, हिन्दुत्व ने सब प्रान्तों में एकसमान संस्कृति, एकसमान चरित्र और एकसमान धर्म विकसित किया है। चाहे कहीं रंग भिन्न हों, फिर भी अनिवार्य सारतत्त्व एक और अभिन्न ही है।

रोम्यां रोलां

हिन्दू धर्म की महत्ता

1. हिन्दू धर्म संसार का प्राचीनतम एवं महत्तम धर्म है। वेद संसार का प्राचीनतम ग्रन्थ है। हिन्दू धर्म का आधार ईश्वर की वाणी वेद ही है।

2. जहाँ ईसाई मत एवं मुसलमान मत केवल संप्रदाय मात्र हैं, हिन्दू ही केवल धर्म है। मानव मात्र के लिए पवित्र जीवन का संदेश देने वाला मानव धर्म है।

3. जहाँ ईसाई मत एवं मुसलमान मत ईसा तथा मुहम्मद नामक व्यक्तियों द्वारा प्रारम्भ किये हुए हैं, हिन्दू धर्म शाश्वत एवं सनातन है। वह किसी व्यक्ति द्वारा प्रारम्भ नहीं किया गया। अतः किसी महापुरुष के होने या न होने से इस धर्म का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं।

4. हिन्दू वह है जो इस देश भारत को ही अपनी जन्मभूमि, पितृ-भूमि, पुण्यभूमि एवं अपना सर्वस्व मानते हैं। यही उसके हेतु धर्म और कर्म की भूमि है। हिन्दू का भारत से जन्म, मरण एवं जन्मान्तर का भी संबंध है। हिन्दू मात्र की समूची श्रद्धा भारत के भीतर ही है। भारत के बाहर कहीं नहीं। मुसलमान की पुण्यभूमि भारत नहीं अरब देश है तथा ईसाइयों के लिए येरूशलम पुण्यभूमि बन जाती है, भारत नहीं। इस तरह भारत में रहते हुए भी अहिन्दुओं की श्रद्धा भारत के बाहर चली जाती है। इसीलिए वे पाकिस्तान के नाम पर देश के टुकड़े करते हैं तथा नागालैण्ड और छोटानागपुर को अलग ईसाई राज्य बनाकर भारत को खण्ड-खण्ड करना चाहते हैं।

5. हिन्दू धर्म पूर्णतया स्वदेशी धर्म है। इसकी सभी शाखाएँ भारत में ही जन्मी तथा फली-फूली हैं। अतः हिन्दू धर्म ही भारत का धर्म है। इसी के उत्थान से भारत का उत्थान होगा।

6. हिन्दू धर्म की सभी शाखाएँ इस सत्य में विश्वास रखती हैं कि आत्मा अजर-अमर और अविनाशी है।

7. सभी हिन्दू कर्म के सिद्धान्त को मानते हैं। मनुष्य जो अच्छा-बुरा कर्म करता है, उसके अनुरूप परमेश्वर द्वारा उसका फल मिलता है।

8. हिन्दू मात्र मोक्ष या मुक्ति या निर्वाण को जीवन का चरम लक्ष्य मानता है।

9. हिन्दू गायत्री मंत्र के द्वारा अपनी बुद्धि को उज्ज्वल बनाने के लिए प्रार्थना करता है।

10. हिन्दू सारे संसार भर को अपना कुटुम्ब मानकर, सब को प्रभु की संतान मानकर सबके कल्याण के लिए नित्य प्रार्थना करता है। वह अहिन्दुओं के समान किसी को 'काफिर' या 'नास्तिक' कहकर गाली नहीं देता।

अतः सभी जीव मात्र का कल्याण चाहने वाला, किसी से घृणा नहीं करने वाला, यह विश्वव्यापी महान् हिन्दू धर्म ही सब धर्मों की माता है, सच्चा मानव धर्म है, आधुनिक काल में स्वामी विवेकानंद, स्वामी रामतीर्थ, स्वामी योगानंद इत्यादि महापुरुषों ने यूरोप तथा अमरीका में भी इसी महान् हिन्दू धर्म के विजय के डंके बजाए तथा अनेक यूरोपियन एवं अमरीकन लोगों को भी इस महान् हिन्दू संस्कृति का अमृत पिलाया।

इस महत्तम धर्म का पालन करके हम पुनः इस हिन्दू धर्म के पावन संदेश से दुःखी मानवता को शान्ति प्रदान कर अपनी खण्डित मातृभूमि के अखण्ड सौभाग्य का निर्माण कर सकते हैं।

क्या अद्भुत देश है यह! इस पुण्य भूमि पर चाहे जो खड़ा हो—वह इस भूमि का पुत्र हो अथवा विदेशी—यदि उसकी आत्मा दुर्दान्त पशुओं के स्तर तक नहीं गिर चुकी है—तो वह स्वयं को पृथ्वी के इन श्रेष्ठतम एवं शुद्धतम पुत्रों के तेजोमय विचारों से घिरा हुआ अनुभव करेगा, जो शताब्दियों तक पशु को देवत्व के शिखर तक उठाने के लिये कार्य करते रहे हैं और जिनका आरम्भ खोजने में इतिहास भी असफल रहा है। यहाँ का वायुमण्डल ही आध्यात्मिकता की तरंगों से ओत-प्रोत है।

—स्वामी विवेकानन्द

धर्म तत्त्व

'धर्म संयम का मंगल मर्यादा कवच एवं मानव की अन्तरात्मा का कर्तव्यानुशासन है, जिस पर मानवता टिकी हुई है। धर्मानुशासन लुप्त हो जाने पर विश्व का कोई भी राज्य शासन मानवता को नहीं बचा सकता। आज विश्व के चारित्रिक संकट के समय विश्व के सर्वोत्तम धर्म, धर्मों के आदि स्रोत सनातन हिन्दू धर्म के प्रचार-प्रसार की आवश्यकता सबसे अधिक है। उत्तम धर्म वह नहीं जिसने आग और तलवार द्वारा दुनिया को रौंद डाला हो, देवालय ध्वस्त, जनगण त्रस्त, परिवार अस्त-व्यस्त, विधर्मी निरस्त, विश्वविद्यालय ज्वालस्थ कर नरमांस पर, नर शोणित से जघन्य बर्बरता की क्रूर कहानी लिख कर अपने पंथ का फैलाव किया है। उत्तम धर्म वह भी नहीं जिसने क्रूसेड और इनिक्विजीशन द्वारा व्यापक नर संहार किये, भिन्न पंथ वालों को लाखों की संख्या में तेल छिड़क कर जीवित जलाया तथा आलोचकों के दबे हुए शवों को कब्र से निकाल कर टॉवर ऑफ लन्दन पर फांसियाँ दीं। उत्तमता की कसौटी है विश्वमंगल की निस्वार्थ साधना, बिना किसी देश की स्वाधीनता छीने तथा किसी माँ-बहिन की मान मर्यादा को लूटे, परहित के लिए आत्म त्याग एवं आत्म यज्ञ, जो हिन्दू धर्म का आधारभूत संस्कार है। आर्य धर्म की इसी महत्ता के कारण ही महात्मा ईसा हिन्दू आचार्यों के शिष्य बनकर भारत में शिक्षा-दीक्षा हेतु आए तथा हजरत मुहम्मद के पितृव्य अबुल हिक्म हिन्द देश, हिन्दू धर्म एवं हिन्दू देवों की स्तुतियाँ गाते थे।'

इन शब्दों में अन्दमान निकोबार द्वीप पुंज की राजधानी पोर्ट ब्लेयर में विश्व हिन्दू परिषद् के तत्त्वावधान में आयोजित विराट् हिन्दू सम्मेलन में संस्कृति विहार राँची के निदेशक एवं विश्व हिन्दू परिषद्, राँची जिला के अध्यक्ष डॉ. हरवंशलाल ओबराय ने भारत एवं मानवता के परम कल्याण के लिए हिन्दू धर्म की रक्षा हेतु आह्वान किया। भारत सेवाश्रम संघ, दिल्ली के प्रमुख स्वामी विजयानन्दजी महाराज ने अपने ओजस्वी व्याख्यान में कहा, 'जहाँ इस्लाम और ईसाइयत एक ही खम्भे (1 पैगम्बर और 1 ग्रन्थ) पर टिके हुए भवन हैं वहाँ हिन्दू धर्म सहस्रों-स्तम्भों पर खड़ा एक सुदृढ़ सनातन भवन है। यदि अन्य पंथों का एक पाया ही हिल जाय तो वे धराशायी हो जाते हैं किन्तु सनातन हिन्दू धर्म युगों के झंझावातों तथा काल के क्रूर आक्रमणों के उपरान्त भी मृत्युंजय है।

मजहब से रक्तपात एवं अशान्ति : धर्म से विश्व मंगल एवं शान्ति

संसार के सभी निष्पक्ष विचारकों एवं धर्म-द्रष्टाओं का यही निर्णित मत है कि विश्व के सभी धर्मों में हिन्दू धर्म ही सर्वोत्तम एवं सर्व कल्याणकारी है। भगिनी निवेदिता (मूलतः आइरिश महिला), डॉ. एनी बीसेंट (ब्रिटिश विचार नेत्री), रोमां रोलां (फ्रेंच साहित्य मनीषी), अर्नाल्ड टायनबी (विश्वविख्यात ब्रिटिश इतिहासकार), विल डूरेंट (सभ्यता के इतिहास के महानतम अमरीकी लेखक) का मत है कि धर्म तो केवल हिन्दू-धर्म ही है; शेष सब पंथ, सम्प्रदाय, मजहब मात्र हैं जो नश्वर मानवों द्वारा धरती के भिन्न-भिन्न भूखण्डों में काल सरिता की नश्वर तिथियों पर किसी सीमित-लौकिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्थापित किये गये। न वे अनादि हैं और न शाश्वत। पंथों और पैगम्बरों की परस्पर प्रतिस्पर्धा के कारण जो भीषण रक्तपात एवं बर्बर जनसंहार हुए उसी ने कार्लमार्क्स जैसे क्रान्तिद्रष्टा को भी नास्तिक बना दिया। जहाँ पंथों ने नर मांस और नर शोणित से अपनी बर्बरता की क्रूर कहानियां लिखी वहाँ विश्व मंगलकारी सनातन हिन्दू धर्म ने बिना किसी की रोटी, बेटी या आजादी को लूटे मानवता के परम मंगल हेतु अपनी मृत्युंजयी संस्कृति के अमृत को विश्व के प्रत्येक देश एवं जाति को निःस्वार्थ भाव से बाँटा।

ब्रिटिश आयरिश महिला डॉ. एनीबीसेंट कहती है—दुनिया के महान् धर्मों का 40 वर्षों तक अध्ययन करने के दौरान मुझे इतना पूर्ण, इतना वैज्ञानिक, इतना दार्शनिक और इतना आध्यात्मिक दूसरा कोई धर्म नहीं मिला जितना वह धर्म जिसे हिन्दू धर्म के नाम से जाना जाता है। आप इसे जितना अधिक जानेंगे उतना ही अधिक प्यार करेंगे और जितना अधिक समझेंगे उतना ही अधिक आदर करेंगे।

भारतीय राष्ट्र एवं संस्कृति पर हिन्दुत्व की अमिट छाप

भारत एक धर्मप्राण देश है। यहाँ स्वदेश एवं स्वधर्म एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। भारत के धर्मग्रन्थों में वेद से लेकर विवेकानंद साहित्य तक सर्वत्र देशभक्ति, देवभक्ति के साथ-साथ चलती है। अतः सच्चा देशभक्त न कभी स्वदेश से, स्वधर्म से द्रोह करता है न परधर्म (अन्य पंथों) की निन्दा ही करता है। अपने स्वदेश से विद्रोह की तो वह कल्पना भी नहीं कर सकता। इसी प्रकार सच्चा धर्मात्मा न कभी स्वदेश से द्रोह कर सकता है न अन्य देशों से अकारण घृणा करता है तथा न किसी प्रतिष्ठित धर्म या सम्प्रदाय का तिरस्कार करता है। भारत में देशभक्ति ही सर्वोच्च धर्म भी है तथा भारत भक्ति ही भगवान् की भक्ति भी सिद्ध होती है। चारों धामों की तीर्थयात्रा के धार्मिक कृत्य से राष्ट्रीय एकता का जो चमत्कार हिन्दू धर्म ने करके दिखाया है वह विश्व इतिहास में अद्वितीय है। इस स्वदेश एवं स्वधर्म की एकता का मूल कारण यही है कि हमारे देश ने सदा विश्वमंगल की साधना की है तथा हमारा धर्म विश्वव्यापी नैतिक सिद्धान्तों पर आधारित सच्चा विश्वधर्म ही रहा है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' हमारा राष्ट्रीय आदर्श तथा 'सर्वधर्म समभाव' हमारा धार्मिक आदर्श रहा है।

इसकी तुलना में कुछ देश दूसरे देशों को कुचल कर पराधीन बनाने में अपनी शान दिखाने वाले होते हैं तथा कुछ धर्म-सम्प्रदाय दूसरे धर्मों के प्रति घृणा का विष फैला कर विद्वेष की अग्नि फूंकने में ही अपने पंथ की महानता मानते हैं। वे विश्व शान्ति के वैरी तथा मानवता के घोर शत्रु सिद्ध हुए हैं।

जामा मस्जिद, दिल्ली के इमाम सैय्यद अब्दुल्ला बुखारी ने वीक एण्ड रिव्यू (Week and Review) नई दिल्ली के 7 जून 1980 के अंक में प्रकाशित एक भेंटवार्त्ता में अति उत्तेजित वक्तव्य दिया और यह हिन्दुओं की अतिशय उदारता की आत्मघाती अतिसीमा ही समझनी चाहिए कि देश की किसी प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिका में अब्दुल्ला बुखारी के अपराधपूर्ण, अपमानकारी कथन का उत्तर देते हुए बुद्धि सम्मत, तर्कपूर्ण उद्बोधक लेख नहीं छपे। इसकी तुलना में मुस्लिम समाज इतना अधिक जागरूक एवं पूर्वाग्रह ग्रस्त है कि इस्लाम के हित अथवा इतिहास पर कहीं आक्षेप या आलोचना हो तो वे संसार भर में एक अवांछनीय तूफान खड़ा कर देते हैं। यरुशलम में कोई ऑस्ट्रेलियावासी अल-अक्सा मस्जिद को जलाने का प्रयास करे तो भारत के मुसलमान अपना सारा गुस्सा हिन्दुओं पर निकालना प्रारम्भ करते हैं। अहमदाबाद के जगन्नाथ मंदिर पर धावा बोल देते हैं, संध्या

को गोचर भूमि से लौटने वाली गायों को काट देते हैं और हिन्दुओं की बस्तियों में आग लगा देते हैं। इसी प्रकार हजरत मुहम्मद साहब के विषय में अमेरिका में छपी हुई पुस्तक का समाचार 'स्टेट्समैन कलकत्ता' में छपता है तो वे धर्मान्ध लोग स्टेट्समैन कलकत्ता के कार्यालय को आग लगा देते हैं। चौदहवीं सदी पूरी होने वाले दिन अगर कुछ बन्दूकधारी मुसलमान ही काबा की मस्जिद की मीनारों में ऊपर चढ़कर नीचे आंगन में नमाज पढ़ने वाले हज यात्रियों पर गोली चलाते हैं तो उसका गुस्सा कोलकाता और हैदराबाद के हिन्दुओं पर हिंसक आक्रमण, गोलीबारी और अग्निकांड के रूप में निकालना कहाँ तक तर्कसंगत है?

भारत में हिन्दुओं की हत्या, दूकानों, ट्राम-गाड़ियों का जलाना काबा की मस्जिद की मुक्ति और इस्लाम की रक्षा में कैसे सहायक हो सकता है और कुरान के शरअी कानून के अनुसार यह कहाँ तक न्यायोचित है?

पचीस साल पहले की बात है। मैं सुबह के समय घूमता हुआ एक गिरजे के सामने से गुजरा। पादरी प्रवचन पढ़ रहा था—

ईश्वर! हमारे शत्रुओं का नाश करो। अधर्मियों के लिए नरक के द्वार खोल दो। हमारे देश को सुख-सम्पदा से भर दो। हमारे सम्राट् को दिग्विजयी बनाओ....

आज एक-चौथाई सदी बीतने पर भी हमारे गिरजाघरों में लगभग इसी प्रकार के प्रवचन पढ़े जाते हैं। उनके खयाल से मेरे मन में विद्रोह की आंधी आयी और मैं सोचता हूं : कैसा है यह प्यारा ईश्वर? वह दया और सहानुभूति का ईश्वर नहीं है। वह अनन्त प्रेम का ईश्वर नहीं, वरन् वह हिंसा का ईश्वर है, रक्तपात का ईश्वर है। जो दो-दो विश्वयुद्धों को जन्म देकर शैतान की हंसी हंसता है। पिछले पचीस सालों से मैं उस ईश्वर से घृणा करता आ रहा हूं और अपनी कल्पना में ऐसे ईश्वर को साकार करता रहा हूं जो मनुष्यों के अपार गौरव और महानता का प्रतीक हो। उस ईश्वर की खोज में मैंने संसार के सभी नये-पुराने दर्शन शास्त्र पढ़े हैं, परन्तु मुझे संतोष नहीं मिला।

हां, हिन्दुओं का वेदान्त पढ़ने पर मुझे जरूर कुछ संतोष हुआ और मेरी कल्पना का ईश्वर साकार किया है। हिन्दू दर्शन कहता है—मुझे घृणा से मुक्त कर दो, मुझे अजातशत्रु बनाओ और भावनाओं के तूफान में मुझे इस प्रकार अचल-अटल बनाओ कि सबको समझ सकूं और प्यार कर सकूं।

—रोमां रोलां